वेदसिद्धांतनिर्णय

विविध वैदिक विषयों पर विवेचन



॥ तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

कपिल सांख्ययोग अनुसन्धान केन्द्र

॥ ओ३म् ॥

वेदसिद्धान्तनिर्णयः

(विविध वैदिक विषयों पर विवेचन)



॥ कपिलसांख्ययोग अनुसन्धानकेन्द्र ॥

॥ विषय सूची ॥

प्रस्तावना	३-७
हृदयस्थाऽत्मनिर्णय	८-६४
यज्ञ	६५-६७
अभावपदार्थ निर्णय	६८-७५

Kapil SaankhyaYog Anusandhan Kendra

॥ वेदसिद्धांतनिर्णय ॥

वेदसिद्धांतनिर्णय का अर्थ है वेद में प्रतिपादित सिद्धांतों का निर्णय करना वेद नाम सांख्याचार्यो ने **"ऋग्यजुःसामाथर्ववेद"** ऋग यजु साम और अथर्व का किया है ये संहिता चारो वेद के नाम हैं केवल यही वेद कहलाते हैं अब सिद्धांत और निर्णय का अर्थ बताते हैं, भगवान् अक्षपाद गौतम अपने न्याय सूत्र में लिखते है:-

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमः

(न्यायसूत्र १/१/१) न्यायदर्शन में सिद्धान्त छठा पदार्थ है। जब किसी विषय को प्रमाणों के आधार पर निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया जाता है, तब वह सिद्धान्त कहलाता है। वात्स्यायन मुनि भाष्य करते हुए लिखते हैं:- **'अस्त्ययम् इत्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः। स च प्रमेयः। तस्य पृथग्वचनं सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्तन्ते, नातोऽन्यथा इति'।** अर्थात्— "यह ऐसा ही है" नित्य है, अनित्य है अथवा किसी विशेष धर्म से युक्त है, इस प्रकार जो पदार्थ या विषय स्वीकार किया जाता है, वही सिद्धान्त कहलाता है। सिद्धान्त प्रमेय है। उसके पृथक् कथन का कारण यह है कि जब सिद्धान्तों में परस्पर विरोध होता है, तभी वाद, जल्प और वितण्डा की प्रवृत्ति होती है, अविरोधी सिद्धान्त की स्थिति में ऐसा नहीं होता। दर्शन की परंपरा में निर्णय का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। निर्णय का तात्पर्य वस्तु को उसके यथार्थ स्वरूप में जानना है। यह एक स्वतंत्र पदार्थ है, जिसे भगवान् अक्षपाद गौतम ने न्यायदर्शन में षोडश पदार्थों में स्थान दिया है, जिससे उसके दार्शनिक तथा साधनात्मक महत्व का बोध होता है। इसी विषय पर भाष्य करते हुए वात्स्यायन मुनि निर्णय की परिभाषा इस प्रकार देते हैं—

निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलं— अर्थात् निर्णय वही तत्त्वज्ञान है जो प्रमाणों का फल होता है। वाद की परिपूर्णता निर्णय में ही होती है; वाद का उद्देश्य भी उसी निर्णय की प्राप्ति और रक्षा है। जल्प और वितण्डा तर्क के माध्यम हैं, जिनके द्वारा निर्णय तक पहुँचा जाता है। तर्क और निर्णय ये दोनों लोकयात्रा को वहन करते हैं, अर्थात् अभ्युदय और निःश्रेयस के साधन हैं। यद्यपि निर्णय प्रमेय में अन्तर्भूत है, तथापि उसके विशेष महत्व के कारण उसे पृथक् रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

अतः निर्णय ही तत्त्वज्ञान है वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही जानना। यही यथार्थ ज्ञान है और यही प्रमाणों का अंतिम फल। प्रमाणों के माध्यम से प्राप्त तत्त्वज्ञान ही निर्णय कहलाता

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

है, और वही वाद, तर्क तथा समस्त न्यायचर्चा का अंतिम लक्ष्य है। वेद अपौरुषेय, नित्य और सर्वथा सत्य हैं, किंतु उनके सिद्धांतों का यथार्थ बोध बिना सम्यक निर्णय के संभव नहीं। इसी कारण वेद के तत्त्वों का शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर निर्णय करना अत्यावश्यक है। इसी उद्देश्य से इस ग्रंथ का नाम "वेदसिद्धांतनिर्णय" रखा गया है अर्थात् वेद में प्रतिपादित सिद्धांतों का यथार्थ, प्रमाणसिद्ध और निष्पक्ष निर्णय। इसी उद्देश्य से भगवान् महर्षि दयानंद परिव्राजकाचार्य ने सत्यार्थप्रकाश की रचना की तथा वहां लिखते हैं कि:-

"इस ग्रंथ का उद्देश्य सत्य–सत्य ज्ञान का प्रकाश करना है।" [भूमिका] उन्हीं के चरणारविंदों से प्रेरणा प्राप्त कर, ऋषि-परंपरा के प्रति अपने ऋण को चुकाने के संकल्प से यह ग्रंथ "वेदसिद्धांतनिर्णय" रचा जा रहा है। यद्यपि एक ही जन्म में ऋषि-ऋण से मुक्त होना असंभव है, तथापि यह विनम्र प्रयास उस महान परंपरा की ओर पहला चरण मात्र है। कौन जानता है—इस आत्मा को अपने स्वामी के ऋण से उऋण होने के लिए और कितने जन्म लेने होंगे, कितने शरीर धारण करने होंगे, और कितनी बार ऋषि-सेवा में स्वयं को समर्पित करना होगा। **यदि यह प्रयास वेद के तत्त्वज्ञान की ओर एक भी जिज्ञासु को प्रेरित कर सके, तो इसे सार्थक समझा जाएगा।**

~सुधांशु

Kapil SaankhyaYog Anusandhan Kendra

॥ ग्रंथ प्रस्तावना ॥

सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति। [अथर्ववेद १२/१/९]

सत्य महान् है, ऋत कठोर है दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ इन्हीं के आधार पर यह पृथ्वी टिकी हुई है। आर्यसमाज के इतिहास में अनेक महाविद्वान् उत्पन्न हुए और कालान्तर में इस लोक से विलीन भी हो गए। निस्सन्देह, उनमें से किसी की भी ऋषि-भक्ति पर संदेह नहीं किया जा सकता। अपने अल्प स्वाध्याय के आधार पर मैं इतना अवश्य कह सकता हूँ कि आज भी हम उन पूर्ववर्ती आर्यविद्वानों के चरण-रज का स्पर्श करने योग्य नहीं हो पाए हैं। यह भी स्मरणीय है कि मनुष्यत्व का अर्थ ही यह है कि कहीं न कहीं त्रुटि होना स्वाभाविक है। स्वयं ऋषि का यह उपदेश हमारे लिए आजीवन व्रत है:- **"जो सत्य है, उसे सत्य ही जानो और वैसा ही स्वीकार करो।"** इसी आदेश का पालन करते हुए, पूर्ण श्रद्धा को अक्षुण्ण रखते हुए, सत्य के पक्ष में विनम्र निराकरण करना न तो अपराध है और न ही अवमानना। इसी सत्यनिष्ठा की पृष्ठभूमि में आज आर्य समाज एक ऐसे मोड़ पर खड़ा है, जहाँ उससे उसकी पहचान छीनी जा रही है। कुछ लोग, स्वयं को आर्यसमाजी कहते हुए, महर्षि दयानन्द सरस्वती की वाणी और ऋषिकृत ग्रन्थों को ही संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं। अपने मत को सही ठहराने के लिए वे बार-बार महामहोपाध्याय पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी का नाम आगे करते हैं, मानो ऋषि की वाणी को गौण सिद्ध कर देना ही बौद्धिकता हो।

यह आर्य समाज की आत्मा पर प्रहार है। जिस समाज की नींव वेद और ऋषि पर टिकी हो, यदि वहीं ऋषि-वाणी को ही चुनौती दी जाने लगे, तो उसका भविष्य क्या होगा यह विचारणीय है। स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस लेख का उद्देश्य पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी की निन्दा करना कदापि नहीं है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी का व्यक्तित्व निश्चय ही वे पाण्डित्य के एक मूर्धन्य विद्वान थे। वेद, दर्शन, मीमांसा और शास्त्रों पर उनका अधिकार असंदिग्ध था। उन्होंने महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों, दुर्लभ पाण्डुलिपियों तथा वैदिक साहित्य के संरक्षण और प्रकाशन में जो योगदान दिया, उसके लिए आर्य समाज सदा उनका ऋणी रहेगा। किन्तु इतना ही नहीं यह भी उतना ही सत्य है कि ऋषि के विरुद्ध कोई भी अर्थ करना मीमांसक जी को स्वयं भी कभी अभिष्ट नहीं था। वे ऋषि-वाणी को अन्तिम प्रमाण मानते थे और अपने पाण्डित्य को कभी भी ऋषि-सिद्धान्तों से ऊपर नहीं रखते थे। किन्तु यह भी सत्य है कि वे मनुष्य थे। मनुष्य से त्रुटि होना स्वाभाविक है। जिन विषयों में उनसे

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

भूल हुई, उनका समाधान उनके ही जीवनकाल में विद्वानों द्वारा कर दिया गया था, और स्वयं मीमांसक जी ने भी सत्य को स्वीकार करने में कभी हिचक नहीं दिखाई। यही उनकी महानता थी। उनकी ऋषि-भक्ति निर्विवाद रहे, इस हेतु नीचे उनकी ऋषि-निष्ठा के कुछ प्रामाणिक प्रमाण प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

वेदार्थ–पारिजात खण्डन हेतु तीव्र इच्छा

वेदार्थ–पारिजात का खण्डन करने की उनकी तीव्र इच्छा थी, किंतु शरीर की दुर्बलता के कारण वे असमर्थ रहे और स्वयं को कोसते हुए अगली जन्म में इसे पूर्ण करने का संकल्प व्यक्त किया "ग्रन्थ को पढ़कर इसका उत्तर लिखने की मेरी उत्कृष्ट इच्छा हुई, परन्तु चिरकाल से विविध व्याधियों से ग्रस्त होने के कारण स्वास्थ्य सर्वथा गिर जाने से उत्तर लिखने में असमर्थ रहा। इच्छा थी कि कोई योग्य विद्वान् सहायक मिल जाता तो इसका उत्तर दिया जा सकता था, परन्तु प्रयत्न करने पर भी जिन व्यक्तियों में से एक-दो को मैं चाहता था, वे सभी अपने कार्य में व्यस्त होने के कारण सहयोग के लिए उद्यत नहीं हुए। उनके लिए आर्थिक प्रश्न नहीं था, उसकी उन्हें पूरी सुविधा देने की व्यवस्था भी हो गई थी। मुझे मानसिक अनुताप इस बात का है कि उक्त पुस्तक १०–१२ वर्ष पूर्व छपी होती (जब मैं कार्यक्षम था) तो बिना किसी के सहयोग के ही इसका प्रौढ़ खण्डन लिख देता। अब तो सम्भव है अगले जन्म में ही यह कार्य कर सकूँगा। वैदिक-सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजन्म के उत्कृष्ट, परन्तु अपूरित संकल्प की पूर्ति अगले जन्म में सम्भव मानी गई है— सविज्ञानमेवान्ववक्रामति, तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (बृहदारण्यक उपनिषद् ४।४।२)।

(२) जिज्ञासु जी द्वारा उनकी अन्तिम वेला का उदाहरण

उनकी अन्तिम वेला में भी ऋषिकृत ग्रन्थ के दर्शन की तीव्र अभिलाषा स्पष्ट रूप से प्रकट हुई— "श्रद्धेय पण्डित युधिष्ठिर जी मीमांसक की अन्तिम वेला में हम उनका पता करने बहालगढ़ गये। तब अन्य बातों के अतिरिक्त श्री पण्डित जी ने हमें भाव-भरित हृदय से कहा- "पण्डित जी मेरी एक इच्छा तो पूरी कर दें।"

हमने कहा- "आदेश करें।"

आपने कहा- "मैं रसाला एक आर्य को देखना चाहता हूँ। उर्दू नहीं जानता, परन्तु पुस्तक दिखा दें। मुझे इसी से सन्तोष हो जायेगा।" हमने कहा वर्षों से उसकी खोज में लगा हूँ। अभी तक तो मिला नहीं। जब मिल जायेगा तो पहले आप ही को उसके दर्शन करवाऊँगा।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

इस पर ठण्डी सांस भरकर आपने कहा- "तो फिर मैं क्या देख पाऊँगा। अब तो शरीर किसी भी समय छूट सकता है। इस जन्म में देख लेता तो अच्छा ही होता।" अब मेरे कहने के लिये कुछ शेष नहीं था, परन्तु हुआ वही जो तब पण्डित जी ने कहा था। उनके शरीर छोड़ने के कुछ ही मास के पश्चात् यह दुर्लभ पुस्तक हमें अनायास ही और धक्के से प्राप्त हो गई। उस अन्तिम भेंट में श्रद्धेय मीमांसक जी ने बहुत गम्भीर मुद्रा में कहा- **"पण्डित जी, प्रत्युत्तर पढ़कर ऐसा लगता है कि ये उत्तर लाला साईंदास जी द्वारा नहीं हो सकते। ला० साईंदास ने सम्पादन कर दिया। ये उत्तर अत्यन्त पाण्डित्य पूर्ण हैं। ऋषि जी से पूछकर ही उत्तर दिये गये लगते है।"** [राजेन्द्र जिज्ञासु जी के "कलकत्ता शास्त्रार्थ" विशेष भूमिका से]

उदाहरण तो इतने अधिक हैं कि उन्हें इस संक्षिप्त लेख में समाहित करना सम्भव नहीं है। इसके लिए तो आदरणीय के सम्पूर्ण जीवन का ही अध्ययन करना होगा। लेकिन आज की तो पीड़ा यह है कि कुछ लोग, मीमांसक जी की आड़ लेकर, ऋषि दयानन्द और उनके सिद्धान्तों को ही कमज़ोर करने में लगे हैं। यह न तो मीमांसक जी के प्रति निष्ठा है और न ही ऋषि के प्रति। यह केवल अपनी बुद्धि को सर्वोपरि मानने का दम्भ है। यह लेख किसी व्यक्ति के विरुद्ध नहीं, एक विकृत प्रवृत्ति के विरुद्ध है। आग्रह केवल इतना है कि पाठक भावावेश में आए बिना, प्रस्तुत विचारों पर शांत चित्त से मनन करें। यदि समय रहते इस दिशा को नहीं रोका गया, तो आर्य समाज विचारधारात्मक रूप से बिखर जाएगा और व्यक्तिवादी पंथों में विभक्त हो जाएगा।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वयं पं० युधिष्ठिर मीमांसक जी भी ऐसे लोगों से सावधान करते हैं, जो अपनी बुद्धि को ही अंतिम प्रमाण मान लेते हैं। उनका स्पष्ट कथन है:- **"अपनी बुद्धि को ही प्रमाण मानने वाले लोग आर्य समाज की निर्बलता का कारण बनते हैं। ऋषि दयानन्द के आदर्शों को समझने वालों को इनसे सावधान रहना चाहिए।"**

आज यही चेतावनी हमारे सामने खड़ी है। आवश्यकता इस बात की है कि आर्य समाज, ऋषि-वाणी को केन्द्र में रखे, न कि किसी भी व्यक्ति को चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो। ऋषि सर्वोपरि हैं, वेद सर्वोपरि हैं। व्यक्ति उनका सेवक हो सकता है, स्थानापन्न नहीं। इसी सन्दर्भ में पंडित मानसराम जी (वैदिक तोप) का स्पष्ट कथन मार्गदर्शक है:- **"धर्माधर्म का निर्णय करने में वेद ही अन्तिम कसौटी है। शेष सब ऋषिकृत ग्रन्थ जो ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द तक के बनाये हुए हैं, वे सब परतः प्रमाण हैं, अर्थात् यदि वेदों**

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

के अनुकूल हों तो प्रमाण हैं, यदि इनमें भी कोई बात वेद के विरुद्ध हो तो वह प्रमाण नहीं है। बाकी सब ग्रन्थ जो ऋषियों के बनाये हुए नहीं हैं चाहे तो वे ऋषि दयानन्द से पहले मनुष्यों के बनाये हुए हों और चाहे वे ऋषि दयानन्दजी से पीछे के मनुष्यों के, अर्थात् तुलसीराम स्वामी, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, पं० राजाराम, पं० आर्यमुनि, पं० सातवलेकर, स्वामी सत्यानन्द, पं० नरदेव, पं० भगवद्दत्त, पं० विश्वबन्धु, स्वामी सर्वदानन्द, पं० जयदेव इत्यादि किसी के भी बनाये हुए क्यों न हों, वे सब ग्रन्थ अनार्ष होने से अप्रमाण हैं। आर्यसमाज पर उन ग्रन्थों का उत्तरदायित्व नहीं है। यदि कोई मनुष्य अपने-आपको आर्यसमाजी कहता हुआ आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखता है तो हम उसका भी अपने उत्तरों में वैसा ही खण्डन करेंगे जैसाकि दूसरे अप्रामाणिक ग्रन्थों का।"

इसका अनुसरण करते हुए, हम दृढ़तापूर्वक यह स्पष्ट करते हैं कि हम हर उस सिद्धांत, विचार या ग्रन्थ का खंडन करेंगे जो ऋषि-विरोधी हो या वेद के अनुरूप न हो। आर्यसमाज में सत्य की स्थापना के लिए यही हमारा मार्गदर्शन और कर्तव्य है। इस दृष्टि से यह लेख किसी व्यक्ति के विरुद्ध नहीं, बल्कि सत्य और वैदिक परम्परा के रक्षार्थ लिखा गया है। आर्य समाजी प्रामद से घिर चुके हैं इसलिए आज आर्य समाज में ऐसे लोग पहुँच गए हैं जो ऋषि के ऋषित्व को नहीं मानते और समाज को बेड़ा गर्क कर रखें हैं।

धन्य हो कलिकाल तेरा! ब्राह्मणकारों ने सत्य ही कहा है "कलिः शयानो भवति" (शतपथ ब्राह्मण) अर्थात् जो सो रहा है, वही कलिकाल में स्थित है। वह बौद्धिक, नैतिक और आत्मिक प्रमाद के डूबा हुआ है जो मनुष्य सत्य, कर्तव्य और जागरूक विवेक से विमुख होकर अन्याय, असत्य और अधर्म पर मौन धारण कर लेता है, वह अनजाने ही कलिभाव को धारण कर लेता है। कलिकाल कोई दूर का युग नहीं है और न ही केवल पंचांग की गणना भर है। कलिकाल एक मानसिक अवस्था है जहाँ सत्य के स्थान पर सुविधा, कर्तव्य के स्थान पर समझौता और संघर्ष के स्थान पर मौन स्वीकार कर लिया जाता है।

आज के समय में तो कलि आर्य समाजियो में भी अपना प्रभाव डाले हुए है इसी कारण आर्य समाजियों से यह विनम्र किंतु स्पष्ट निवेदन है कि कलिकाल में सोते न रहें। यदि सतयुग की ऊँचाई तत्काल उपलब्ध न हो, तो कम से कम द्वापर-भाव में तो प्रवेश करें जहाँ अन्याय के विरुद्ध प्रश्न करने का साहस, सत्य के लिए खड़े होने का संकल्प और कर्मयोग की चेतना जीवित रहती है। ऋषि-प्रणीत वैदिक परंपरा बुद्धि, विवेक और

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

स्वाध्याय पर आधारित है। बिना जागरण के न वेद समझे जा सकते हैं, न समाज का मार्गदर्शन संभव है। वैदिक चेतना का पुनः स्थापन तभी होगा, जब आर्य समाजी सजग, प्रश्नशील और निर्भय होंगे। आज का समय इसी निद्रा-प्रवृत्ति से घिरा हुआ प्रतीत होता है। जिसका कोई शत्रु नहीं, वह प्रायः सत्य से समझौता कर चुका होता है क्योंकि सत्य पर अडिग रहना सदैव विरोध, संघर्ष को जन्म देता है। त्रेता में रावण, द्वापर में कंस, धृतराष्ट्र और उसके सौ पुत्र ही कलि-भाव के प्रतिनिधि थे, किंतु आज यह प्रवृत्ति चारों ओर फैली हुई दिखाई देती है, और इसके विरोध का साहस दुर्लभ होता जा रहा है। इसी कारण आज विरले ही ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो ब्रह्म के आनंद में स्थित होकर, नीति, स्वाध्याय और वेद-विज्ञान के मार्ग पर दृढ़ता से चलते हों।

सत्य का युग जागरण से निर्मित होता है, और कलियुग अज्ञान, प्रमाद तथा असत्य पर मौन रहकर किए गए समझौतों से विस्तार पाता है। अतः समय रहते सजग होना अनिवार्य है। आर्य समाज को किसी भी प्रकार के "युधिष्ठिर-पंथ", निष्क्रिय नैतिकतावाद या व्यक्तिपूजा की धारा में परिवर्तित होने से बचाना होगा। आर्य समाज का धर्म केवल सहनशीलता का नहीं, बल्कि सत्य के लिए संघर्ष, तर्क और सुधार का धर्म है। आर्य समाज को पुनः उसी वैदिक पथ पर स्थिर करना होगा, जिसके लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपना सम्पूर्ण जीवन संघर्ष, उपेक्षा और बलिदान के साथ समर्पित कर दिया था। **जागृत् वै धर्मः। मौनमेव कलिः।**

उपनिषद् आदि ग्रंथों पर पण्डित शिवशंकर शर्मा, पण्डित आर्यमुनि, आचार्य राजवीर शास्त्री आदि के भाष्यों का प्रयोग किया है जिन्होंने उत्तमोत्तम भाष्य किया है।

~सुधांशु

Kapil Saankhy Yog Anusandhan Kendra

॥ हृदयस्थाऽत्मनिर्णय ॥

ओ३म् नमस्ते ब्रह्महृदय नमस्ते मम पूर्वज। लोकाद्य भुवनश्रेष्ठ साङ्ख्ययोगनिधे विभो॥

आत्मा के निवास-स्थान को लेकर प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक विद्वानों के मध्य गम्भीर मतभेद विद्यमान रहे हैं। विशेषतः आधुनिक युग में तथा कुछ पूर्ववर्ती दार्शनिक प्रवृत्तियों में यह मत प्रचलित हुआ है कि आत्मा का अधिष्ठान मस्तिष्क है। इस मत के समर्थक प्रायः चेतना, स्मृति, ज्ञान, निर्णय आदि मानसिक क्रियाओं का सम्बन्ध मस्तिष्क से जोड़ते हुए आत्मा को भी उसी का पर्याय या आश्रित मानने का प्रयास करते हैं। किन्तु जब इस मत की शास्त्रीय कसौटी पर जाँच की जाती है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि मस्तिष्कगत आत्मा का सिद्धान्त न तो वैदिक वाङ्मय से, न ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् परम्परा से, और न ही दर्शनशास्त्रों की मूल अवधारणाओं से किसी प्रकार प्रमाणित होता है। वस्तुतः यह मत शब्दों की चातुरी, आधुनिक विज्ञान की अपूर्ण व्याख्याओं तथा दार्शनिक शब्दावली के भ्रमजाल के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता। यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि वेदों में तो क्या, किसी भी प्रामाणिक शास्त्र में एक भी ऐसा स्पष्ट शब्द, पद या वाक्य उपलब्ध नहीं होता, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि आत्मा का निवास मस्तिष्क में है। न मन्त्र, न ब्राह्मण, न आरण्यक, न उपनिषद् किसी भी स्तर पर मस्तिष्क को आत्मा का आश्रयस्थान घोषित नहीं किया गया है।

इसके विपरीत, आत्मा के हृदयस्थ होने के विषय में शास्त्रों में सहस्रशः प्रमाण उपलब्ध हैं। वेद, उपनिषद्, स्मृति, योग और वेदान्त सभी परम्पराएँ एक स्वर से आत्मा को हृदय में स्थित मानती हैं। हृदय को चेतना का केन्द्र, आत्मा का अधिष्ठान और ब्रह्म का निवासस्थान कहा गया है। यह हृदय कोई स्थूल मांसपिण्ड मात्र नहीं, अपितु सूक्ष्म चेतन-केन्द्र है, जहाँ आत्मा अपने साक्षित्व में प्रतिष्ठित रहती है। इसी कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम उन मतों की समालोचना की जायेगी, जो आत्मा को मस्तिष्कगत मानते हैं। इस समीक्षा में यह दिखाने का प्रयास किया जायेगा कि यह मत शास्त्रीय प्रमाणों पर नहीं, अपितु पूर्वाग्रह, भाषिक क्रीड़ा और अप्रामाणिक व्याख्याओं पर आधारित है। इसके पश्चात् शास्त्रसम्मत हृदयस्थ आत्मा के सिद्धान्त को क्रमशः वैदिक, औपनिषदिक तथा दार्शनिक प्रमाणों के माध्यम से स्थापित किया जायेगा।

विशेष उल्लेखनीय है कि आर्य समाज के प्रमुख विद्वान पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इस विषय पर एक लघु लेख प्रकाशित कर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि आत्मा

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

का स्थान मस्तिष्क में है, और इसके समर्थन में उन्होंने वेद का प्रमाण प्रस्तुत करने का दावा किया है। अतः इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम उन्हीं के मन्तव्य की सम्यक् समीक्षा की जायेगी। यह समीक्षा किसी व्यक्तिगत आलोचना के उद्देश्य से नहीं, बल्कि शुद्ध शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से की जायेगी। इसमें यह जाँचा जायेगा कि जिन वैदिक मन्त्रों को आत्मा के मस्तिष्कगत होने के प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, क्या वास्तव में वे उसी अर्थ को वहन करते हैं, अथवा मन्त्रार्थ को तोड़-मरोड़ कर केवल पूर्वनिश्चित निष्कर्ष को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार, प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य न तो किसी विद्वान की प्रतिष्ठा पर आघात करना है और न ही किसी सम्प्रदाय का खण्डन करना; अपितु आत्मा जैसे अत्यन्त सूक्ष्म और केन्द्रीय तत्त्व के विषय में शास्त्रसम्मत सत्य को उजागर करना है, जिससे पाठक पूर्वाग्रह-रहित होकर प्रमाण, तर्क और अनुभूति के आधार पर आत्मतत्त्व को समझ सके। अस्तु।

॥ वेद और आत्मा का स्थान ॥

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः। तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ २७॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥
तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ ३३॥

[अथर्ववेद १०/२/२७,३१,३२,३३]

इस मन्त्रों का युधिष्ठिर मीमांसक जी ने अभिप्राय लिखा है— "आठ चक्रों और नव द्वारों से युक्त देवों की अयोध्या तथा अथर्वा नाम्नी नगरी के शिरस्थान में हिरण्यमय देवकोश है। उसके भीतर तीन और से संबद्ध त्रिकोण स्थान में आत्मन्वत यक्ष ब्रह्मा=जीवात्मा निवास करता है"।

प्रथमतः तो इन्होंने बीच के मन्त्र गायब कर दिये २८,२९ और ३० क्योंकि इन्होंने जो अभिप्राय लिखा है वह इन तीन मन्त्रों से मेल नहीं खाता है। क्योंकि २७वें मन्त्र का विषय अलग है। वहां यह नहीं बताया जा रहा है कि आत्मा मस्तिष्क अथवा शिर में रहती हैं। यहां मीमांसक जी ने २७ वें मन्त्र से शिर और देवकोष शब्द उठा अन्त के तीन मन्त्रों में जोड़ आशय लिख दिया जो कि स्वंय २७ वें मन्त्र तथा २७-३३ तक के मन्त्रों से मेल नहीं खाता। अब हम पाठकों के समक्ष २७ वें मन्त्र का ठीक-ठीक अर्थ लिखते हैं जिससे स्पष्ट

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

हो जायेगा कि वहां आत्मा के रहने अथवा ना रहने का विषय नहीं है। वहां तो योगी के एक अवस्था विशेष कि बात है।

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः। तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ २७॥

व्याख्या— वह शिरः अर्थात् योगी के मन और आत्मा की वह अवस्था देवताओं का कोषस्थल है, जो पूर्णतः और सर्वथा दैवी उपस्थिति से अभिसिक्त है, और इस प्रकार उन्नत हुई उस अवस्था में प्राण, शुद्ध आहार तथा मन की शान्ति ये सभी अविचल शान्ति की अवस्था में रक्षा और संरक्षण करते हैं।

स्पष्ट कर दूं कि मन्त्र में कहीं भी मस्तिष्क में आत्मा रहती है इसका गन्ध भी नहीं है। मीमांसक जी को चाहिए था कि वह पूर्वापर प्रसंग एकबार देख लेते। परन्तु उन्होंने हठवश यह ऋषियों के विरूद्ध मत स्थापित किया है जिसका कोई छोर नहीं। यहां शिरः से तात्पर्य योगी के उच्च अवस्था विशेष से है ना कि मस्तिष्क में आत्मा रहने से। २७ वें मन्त्र में योगी की उच्चावस्था करने के पश्चात् २८-३०वें मन्त्र में वेद सम्पूर्ण शरीर में ब्रह्म की व्यापकता का निर्देश करते हैं।

ऊर्ध्वो नु सृष्टांस्तिर्यङ्नु सृष्टाꣳस्सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँꣳ। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ २८॥

व्याख्या— ऊपर नीचे पार्श्व और नीचे की ओर से भी सृष्ट हुआ ब्रह्म सभी स्थानों में सत्तावान हो स्थित है। जो ब्रह्म की इस पुरी को जानता है। जिसके सम्बन्ध से ब्रह्म पुरुष नाम से कहा जाता है।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥

व्याख्या— अमृत द्वारा आवृत्त हुई ब्रह्म की उस पूरी को जो जानता है उस के लिए ब्रह्म और ब्रह्मोत्पादित शक्तियां, चक्षु आदि इन्द्रियां प्राण आदि पांच वायु तथा उत्तम जन्म देती है।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥

Kapil Saankhyayog Anusandhan Kendra

व्याख्या— निश्चय से उसे जरावस्था से पूर्व न दृष्टि ना प्राण त्यागता है जो कि शरीर को ब्रह्म की पुरी के रूप में जान लेता है। जिस के सम्बन्ध से ब्रह्म पुरुष कहा जाता है।

इस तीसवें मन्त्र तक यह निश्चिय हुआ कि इस सम्पूर्ण शरीर में ही ब्रह्म व्याप्त है ऊपर नीचे आगे पीछे प्रत्येक स्थान पर सत्तावान है और इसी कारण ब्रह्म को पुरुष भी कहा जाता है। अन्तिम तीसवें मन्त्र में सम्पूर्ण शरीर को ही ब्रह्म की पुरी कहा है। अगले मन्त्र में इसी को और भी विशिष्ट रूप से कहा है।

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥

व्याख्या— आठ चक्रों वाली, नौ द्वारों वाली इन्द्रिय देवों की पुरी अयोध्या है। उस पुरी में सुवर्ण सदृश चमकीला कोश है, जिसे कि स्वर्ग कहते हैं जो कि ब्राह्मीज्योति द्वारा घिरा हुआ है।

इस मन्त्र में शरीर के भीतर उस स्थान का सूक्ष्मरूप से निर्देश किया गया है कि आत्मा कहां रहता है। परन्तु स्पष्टतः इस मन्त्र में भी उस शरीर के विशिष्ट स्थान का निर्देश नहीं है जिससे हम उसे हृदय अथवा मस्तिष्क कह सकें। इस मन्त्र में हिरण्यमय कोश की बात कही है वह कहां होता है इसका निर्णय आगे करते हैं।

तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥

व्याख्या— उस सुवर्ण सदृश चमकीले, तीन अरों वाले, तथा तीन बन्धनों द्वारा स्थित कोश में अर्थात् ऐसे उस कोश में पूज्य ब्रह्म जीवात्मा का साथी है। उसे निश्चिय से ब्रह्मविद जानते हैं।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ ३३॥

व्याख्या— प्रदीप्तमान, मनोहारिणी यशस्वी ब्रह्म द्वारा सम्यक प्रकार से सब ओर से आवृत अर्थात् घिरी हुई सुर्वण सदृश चमकीली, रोग, काम, क्रोधादि द्वारा अजेया पुरी में ब्रह्म प्रविष्ट हो गया है।

३२ तथा ३३वें मन्त्र में उस विशिष्ट स्थान को हिरण्यमय कोश तथा तीन अरों वाला कहा है। ऐसा विशिष्ट स्थल शरीर में केवल हृदय ही है। मस्तिष्क नहीं। इन सब मन्त्रों की

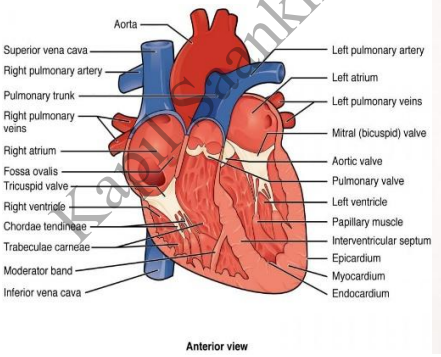
Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया कि मीमांसक जी का माना हुआ मस्तिष्क मत यहां कहीं भी नहीं है उन्होंने केवल शब्दजाल रचें हैं। संभव है अभी भी कई पाठकों को लग सकता है कि हम ऐसा ही क्यों माने कि वह हिरण्यमय कोश हृदय में ही है मस्तिष्क में नहीं। इस शंका के समाधान के लिए हमें अथर्ववेद के ज्येष्ठब्रह्मवर्णन सूक्त पर दृष्टि डालनी होगी। इस सूक्त का ४३वां मन्त्र इस शंका का सम्पूर्णतयः उच्छेदन कर देता है मन्त्र है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥ [अथर्व १०/८/४३]

व्याख्या— हे शिष्यो ! (**पुण्डरीकम्**) हृदय कमल जो (**नवद्वारम्**) नौ द्वारों से युक्त है और (**त्रिभिः+गुणभिः**) जो तीन गुणों से (**आवृतम्**) आवृत है (**यस्मिन्**) जिस पुण्डरीक के ऊपर (**यद्+य क्षम्**) जो परम पूजनीय ब्रह्म है वह (**आत्मन्वत्**) आत्मा के साथ निवास करता है (**तद्वै**) निश्चय उसी को (**ब्रह्मविदः**) ब्रह्मवेत्ता (**विदुः**) जानते हैं।

इस मन्त्र में जिस विशिष्ट स्थान पर आत्मा रहती है उसका स्पष्ट उल्लेख है। यहां कहा गया है कि वह जो हिरण्यमय अथवा तीन अरों वाला पुण्डरीक है वह नौ द्वारों वाला है। वहीं आत्मा का निवास स्थल है। अब यदि हम शरीर विज्ञान की दृष्टि से विचारें तो हम यह पायेंगे कि हृदय जो कि कण्ठ के नीचे और नाभि के ऊपर स्थित है वह नौ द्वारों वाला ही है। जबकि मस्तिष्क में ऐसा कोई द्वार नहीं होता। चलिए इसे एक चित्र द्वारा दर्शातें हैं।



Anterior view



इस चित्र में स्पष्टतः दिख रहा है कि हृदय ग्रंथि में नौ द्वार हैं जिसकी बात ऊपर अथर्ववेद के मन्त्र में की गई है। और वहीं पर ब्रह्म आत्मा के साथ निवास करता है परन्तु मस्तिष्क

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

में तो ऐसा कोई मन्त्र वर्णित छिद्र तो है ही नहीं पुनः मस्तिष्क को आत्म निवास का स्थान कहना केवल शब्दजाल मात्र है।

युद्धिष्ठिर मीमांसक जी ने हृदय शब्द देखकर उसकी संगति इस प्रकार लगाने का प्रयास किया है कि शास्त्रों में हृदय शब्द मस्तिष्क के लिए भी प्रयोग होता है। प्रथमतः तो मैं स्पष्ट कर दूं कि यह बात अधिकांशतः आयुर्वेद में है जहां मस्तिष्क को हृदय कहा गया है। परन्तु वेद उपनिषद आदि शास्त्रों में मस्तिष्क के लिए हृदय का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है। बल्कि अथर्ववेद के जिस सूक्त का अर्थ हम ऊपर कर आयें हैं उसी सूक्त का २६ वां मन्त्र इस बात की साक्षी है कि मस्तिष्क और हृदय दोनों के लिए शास्त्रों में एक ही शब्द 'हृदय' का प्रयोग नहीं है। बल्कि मस्तिष्क के लिए 'मस्तिष्क' अथवा 'मूर्धा' और हृदय के लिए 'हृदय' का प्रयोग है। देखें अथर्ववेद के उसी सूक्त का २६वां मन्त्र—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥ २६॥

व्याख्या— अथर्वा अर्थात् परमपिता परमात्मा इस पुरुष के सिर को और हृदय को एकीकृत करके दोनों को नाड़ियों द्वारा जोड़कर जब मस्तिष्क से ऊपर और शिर के भी ऊपर होकर प्राणस्वरूप होकर स्वंय समस्त देहों को गति दे रहा है।

इस अथर्व मन्त्र में स्पष्टतः हृदय और मस्तिष्क को अलग अलग कहा है हृदय वही है जो दोनों स्तनों के बीच लटकता रहता है। और मस्तिष्क तो सभी को ज्ञात ही है। जब स्वंय वेद भगवान मस्तिष्क और हृदय को अलग-अलग कह रहे हैं पुनः युद्धिष्ठिर मीमांसक जी ने किस पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर हृदय शब्द से मस्तिष्क का ग्रहण किया है? क्या उपनिषत्कार अथवा अन्य दर्शनकार यह भूल गये थे कि मस्तिष्क बताने के लिए मस्तिष्क शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है? क्यों समस्त उपनिषद् तथा दर्शनशास्त्रों में हृदय का ही प्रयोग किया गया है? यदि मस्तिष्कगत आत्मा होती तो किसी ना किसी उपनिषत्कार ने तो अवश्य ही लिखा होता ताकि भ्रम ना फैले। जब उपनिषद् इतने बड़े-बड़े लिखे जा सकते हैं तो क्या मात्र कुछ शब्दों के लिए उन्होंने हृदय लिख दिया क्योंकि मस्तिष्क लिखने से ग्रन्थ का विस्तार हो जाता? यह तो समीचीन नहीं लगता। परन्तु उन्हें भी यह ज्ञात था कि हृदय से मस्तिष्क का ग्रहण नहीं होगा बल्कि हृदय से वही ग्रहण होगा जो दोनों स्तनों के बीच मांसपिण्ड लटक रहा है। इसलिए ही समस्त उपनिषद् तथा दर्शनों में हृदय ही का उल्लेख है।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

॥ छान्दोग्योपनिषद् और आत्मा का स्थान ॥

अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णामप्रवर्ति पूर्णामप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद॥ [छान्दोग्य ३/१२/९॥]

व्याख्या— (**अयम्+वाव**) यही (**स**) वह है (**यः+अयम्**) जो यह (**अन्तर्हृदये**) हृदयाभ्यन्तर (**आकाशः**) अर्थात् प्रकाशवान् ब्रह्म है (**तदेतत्**) वह यह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म (**पूर्णम्**) सर्वत्र विद्यमान है। पुनः (**अप्रवर्ति**) परिवर्त्तन रहित है आगे फल कहते हैं (**यः+एवम्+वेद**) जो ऐसा जानता है। वह (**पूर्णम्**) पूर्णब्रह्म को (**लभते**) पाता है और (**अप्रवर्तिनी**) सदा स्थिर रहने वाली (**पूर्णाम्**) पूर्ण (**श्रियम्**) सम्पत्ति (**लभते**) पाता है॥

पाठकों को लग सकता है कि क्या पता छान्दोग्योपनिषद् का यह मन्त्र संभव है हृदय शब्द से मस्तिष्क की बात कर रहा हो। चलिए इस शंका का निवारण भी छान्दोग्य के अगले प्रकरण से करते हैं।

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणास्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत। तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ [छान्दोग्योपनिषद् ३/१३/१]

व्याख्या— इस हृदय के, निश्चय, पञ्चदेव सुषि हैं। इस हृदय का वह जो पूर्वसुषि (**छिद्र**) है वह प्राण, वह चक्षु, वह आदित्य कहलाता है। इसको 'तेज' और अन्नाद्य जान विचार करे। जो ऐसा जानता है वह तेजस्वी और अन्नाद होता है।

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत। श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद॥ २॥

व्याख्या— अनन्तर इस (**हृदय**) का जो दक्षिण सुषि है वह व्यान (**नामक द्वार**) है ।वह श्रोत्र और वह चन्द्रमा कहलाता है। इसको "श्री" और "यश" जान विचारे। जो ऐसा जानता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है।

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत । ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ ३॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— अनन्तर (**अस्य**) इस हृदय का (**यः**) जो (**प्रत्यङ्**) प्रत्येक वस्तु से सम्बन्ध रखने वाली वा पश्चिमदिक्स्थ (**सुषिः**) छिद्र है (**सः+अपानः**) वह अपान है क्योंकि मुख में ही इस वायु का संचार है (**सा+वाग्**) वह वाणी कहलाती है। अर्थात् वह बागात्मक ज्ञानेन्द्रिय है (**सः+अग्निः**) उसे अग्नि भी कहते हैं। क्योंकि वागिन्द्रिय का निमित्तकारण अग्नि है। आगे उपासना सम्बन्धी विज्ञान कहा जाता है (**तत्+एतत्**) इस वाक् ज्ञानेन्द्रिय को (**ब्रह्मवर्चसम्**) ब्रह्मसाधक तेज और (**अन्नाद्यम्**) अन्नभोक्तृत्व गान (**उपासीत**) प्राकृत विद्या द्वारा जाने। आगे फल कहते हैं (**यः+एवम्+वेद**) जो ऐसा जानता है वह भी ब्रह्मवर्चसी होता है इत्यादि पूर्ववत्॥

अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत। कीर्त्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद॥ ४॥

व्याख्या— (**अथ**) अनन्तर (**अस्य**) इस हृदय का (**यः**) जो (**उदङ्**) ऊर्ध्वगमनशील (**सुषिः**) छिद्र द्वार है (**सः+समानः**) वह समान कहलाता है (**तत्+मनः**) वह मन इन्द्रिय है। (**सः+पर्जन्यः**) उसे पर्जन्य भी कहते हैं। इसका विज्ञान कहा जाता है । (**तद्+एतत्**) उस इस मन इन्द्रिय को (**कीर्तिः+च**) कीर्त्ति और (**व्युष्टिः+च**) विशेषकान्ति (**इति**) मान (**उपासीत**) प्राकृत शास्त्र के द्वारा जाने। आगे फल कहा जाता है (**यः+एवम्+वेद**) जो ऐजा जानता है। वह (**कीर्तिमान्**) कीर्त्तिमान् और (**व्युष्टिमान्**) विशेष कान्तिमान् (**भवति**) होता है॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद॥ ५॥

व्याख्या— (**अथ**) अनन्तर (**अस्य**) इस हृदय का (**यः**) जो (**ऊर्ध्वः**) ऊर्ध्व (**सुषिः**) छिद्र है (**स**) वह (**उदानः**) उदान (**सः+वायुः**) वह वायु (**सः+आकाशः**) वह आकाश कहलाता है। आगे इसका विज्ञान कहा जाता है (**तत्+एतत्**) उस इसको (**ओजः**) बल और (**महः**) महान् वा तेज मान (**उपासीत**) प्राकृत विज्ञान द्वारा विचारे। फल कहते हैं (**यः+एवम्+वेद**) जो ऐसा जानता है (**ओजस्वी+महस्वान्+भवति**) ओजस्वी और तेजस्वी होता है॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रहापुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद॥ ६॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— (**वै**) निश्चित है कि (**ते+एते**) वे ये (**पञ्च+ब्रह्मपुरुषाः**) पांचों ब्रह्मपुरुष (**स्वर्गस्य+लोकस्य**) सुखभवन हृदयरूप लोक के (**द्वारपाः**) द्वारपालक हैं (**सः+यः**) सो जो कोई विद्वान् (**एतान्+पञ्च+ब्रह्मपुरुषान्**) इन पांचों ब्रह्मपुरुषों को (**एवम्**) पूर्वोक्तगुण सहित (**स्वर्गस्य+लोकस्य+द्वारपान्**) आनन्द भवन हृदयरूप लोक के द्वारपाल (**वेद**) जानता है (**अस्य+कुले**) इस विद्वान् के कुल में (**वीरः+जायते**) वीर लोग उत्पन्न होता है। (**स्वर्गम्+लोकम्**) सुखलोक को (**प्रतिपद्यते**) प्राप्त होता है। इस विज्ञान में दृढ़ विश्वासार्थ पुनः इसी विषय को कहते हैं (**य एतान् पञ्चब्रह्मपुरुषान्**) जो इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को (**एवम्**) ऐसे (**स्वर्गस्यलोकस्य**) आनन्द भवन हृदयरूपलोक के (**द्वारपान्**) द्वारपाल (**वेद**) जानता है॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेपूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टिः॥ ७॥

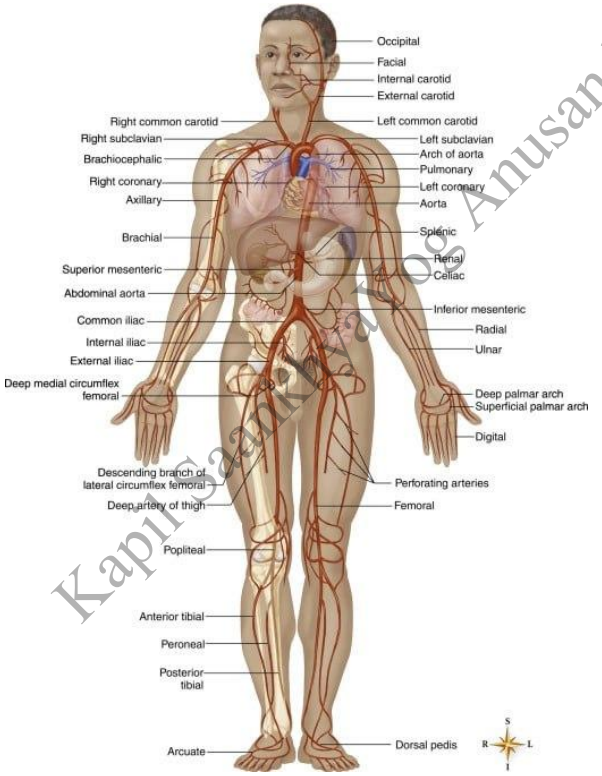
व्याख्या— (**अथ**) पञ्च ब्रह्मपुरुष कहे गये। जो इस हृदय रूप भवन के रक्षक हैं। अब जो इस हृदयस्थ आत्मा है उसका वर्णन कहतेहैं। क्योंकि जीवात्म निश्चय होने से ही उस ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न की संभावना है। अतः पञ्चब्रह्म पुरुषों के वर्णन के अनन्तर आत्मविज्ञान का आरम्भ होता है ! (**अतः**) इस (**दिवः**) हृदयरूप दिव्यस्थान से ऊपर (**परः**) उत्कृष्ट (**यत्+ज्योतिः**) जो जीवात्म स्वरूप ज्योति (**दाप्यत**) देदीप्यमान हो रहा है। वह ज्योति अवश्य ज्ञातव्य है। **शङ्का-** इस हृदयरूप दिव्यस्थान के ऊपर कहने से प्रतीत होता है कि यह कहीं अन्यत्र है। अतः = आगे कहते हैं (**इदम्+वाव+तत्**) यही वह है। कौन वह है ? (**अस्मिन्+अन्तः पुरुषे**) इस शरीर के अभ्यन्तर में (**यद्+इदम्+ज्योतिः**) जो यह ज्योति। आत्मस्वरूप प्रकाश है। **शङ्का-** क्या यह केवल इसी शरीर के अनन्तर है अन्यत्र नहीं ? अतः आगे कहते हैं (**विश्वतः पृष्ठेषु=सर्वतः पृष्ठेषु**) सबों के ऊपर भी है। यह दृश्यमान जगत् जितना दीखता है। उस के ऊपर भी जीवात्मा है इसी को पुनः विस्पष्ट करते हैं (**अनुत्तमेषु उत्तमेषु**) हम लोगों की दृष्टि से उत्तम वा अनुत्तम (**लोकेषु**) सब लोकलोकान्तरों में (**इदम्+वाव**) यही आत्मा है। जो आत्मा इस मनुष्य शरीर के अभ्यन्तर में है। अर्थात् ईश्वर की सृष्टि जहां-२ है वहां-२ सर्वत्र यही जीवात्मा है आत्मभेद कहीं नहीं है। और यदि सर्वत्र जो जीवात्म सृष्टि न हो तो ईश्वर की सृष्टि भी पूर्ण नहीं होती। अतः यही आत्मा सर्वत्र विद्यमान है। क्या इस आग ज्योति के दर्शन का भी कोई उपाय है ?

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

(**तस्य+एषा+दृष्टिः**) उस ज्योति का यह दर्शन है अर्थात् वक्ष्यमाण रीति से उस की प्रत्यक्षता होती है॥

इस छान्दोग्योपनिषद् के पूरे प्रकरण में हृदय की बात है और यह वही हृदय है जो दोनों स्तनों के बीच में है। ना कि मस्तिष्क। यदि यह मस्तिष्क होता तो मस्तिष्क से पांच इन्द्रियों के लिए पांच द्वार होते।

यहाँ मानव चित्र में स्पष्ट हो रहा है कि मस्तिष्क से कोई द्वार निकलकर पञ्चइन्द्रियों की ओर नहीं जाती जैसा कि उपरोक्त प्रकरण में वर्णित है। उल्टा चित्र मे यह अवश्य दिख रहा है कि हृदय से ही मस्तिष्क को एक नाडी गई है। इस प्रकरण से यह मत और भी दृढ़ होता है कि यह आत्मा इसी हृदयस्थ पुण्डरीक में रहती है।



तथा सातवें मन्त्र में तो स्पष्टतः पांच द्वारों को पांच ब्रह्म पुरुष भी कहा है। आगे कहते हैं कि इस हृदयरूप दिव्य स्थान से परे उत्कृष्ट जो जीवात्म स्वरूप ज्योति देदीप्यमान हो रही है। कहने का तात्पर्य यह है कि हृदय को यहां दिव्यस्थान कहा है। दिव्य कहने का सीधा

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

अर्थ यही है कि यहां कुछ दिव्य होना चाहिए और वह दिव्यता आत्मा ही है। शंका हो सकती है कि आप यहां हृदय कैसे ले आये सातवें मन्त्र में तो हृदय शब्द है ही नहीं? सुनिए हृदय शब्द यहां पूर्व मन्त्रों से आवृत्त हुआ है क्योंकि यह जो पूरा छान्दोग्योपनिषद् का प्रकरण है इसमें आठ मन्त्र है और यह प्रकरण ही हृदयस्थ पञ्चब्रह्मपुरुष तथा आत्मा का है।

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥ [छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/३]

व्याख्या— (**मे**) मेरे (**अन्तर्हृदये**) हृदय के अन्तः=मध्य में अर्थात् हृदयपुण्डरीक के मध्यमें (**एषः**) यह (**आत्मा**) परमात्मा विराजमान है। वह कैसा है सो आगे कहते हैं (**व्रीहेः+वा**) धान्यमात्र का नाम व्रीहि है। इस से भी (**अणीयान्**) वह आत्मा अतिशय अणु सूक्ष्म है (**यवाद+वा**) जौ से भी वह अणु है (**सर्षपाद्+वा**) सरसों से भी वह अणुतर है (**श्यामाकाद्+वा**) श्यामाक नाम धान्य से भी अणतर है (**श्यामाकतण्डुलाद्+वा**) श्यामाकतण्डुल (**चावल**) उस से भी वह अणुतर है। **शङ्का-** अणीयान् कहने से वह अणुतर प्रतीत होता है। परन्तु अणुतर पदार्थ परिच्छिन्न होता है तो क्या ईश्वर भी परिच्छिन्न है ? अतः आगे कहते हैं (**मे**) मेरे (**अन्तर्हृदये**) हृदय पुण्डरीक के मध्य में (**एषः+आत्म**) यह आत्मा है। वह कैसा है सो कहते हैं (**पृथिव्याः+ज्यायान्**) पृथिवी से भी बहुत बड़ा (**अन्तरिक्षात्+ज्यायान्**) अन्तरिक्ष (**आकाश**) से भी अतिशय बृहत् (**दिवः+ज्यायान्**) द्युलोक से भी अतिशय बृहत् वह ब्रह्म है। **शङ्का-** एक एक लोक से भले ही वह बड़ा हो परन्तु एकीभूत इन सबों से तो वह बड़ा नहीं। इस हेतु आगे कहते हैं (**एभ्यः+लोकेभ्यः**) एकीभूत इन सब लोकलोकान्तरों से भी (**ज्यायान्**) वही बहुत बड़ा है॥

यहां भी हृदय में ही आत्मा को छान्दोग्योपनिषद् कार कहते हैं। पुनः अगले मन्त्र में महर्षि शाण्डिल्य भी यही कहते हैं।

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥ ४ ॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— (**सर्वकर्म्मा**) वह परमात्मा कौन है सो कहते हैं। जगत् की उत्पत्ति स्थिति संहाररूप सब कर्म उसीका है। अतः वह सर्वकर्मा कहलाता है (**सर्वकामः**) समस्त शुभइच्छ से वह युक्त है (**सर्वगन्धः**) समस्त पुण्य सुगन्धिउसी से सर्वत्र व्याप्त है (**सर्वरसः**) समस्त पवित्र रस की राशि है (**सर्वम्+इदम्+अभ्यात्तः**) इस सम्पूर्ण विश्वमें अणु अणु में व्याप्त है (**अवाकी**) वाणी रहित है (**अनादरः**) संभ्रम रहित है। आदरकी इच्छा जिस में न हो। शाण्डिल्य ऋषि कहते हैं (**एषः**) यह पूर्वोक्त गुण विशिष्ट (**आत्मा**) परमात्मा (**मे**) मेरे (**अन्तर्हृदये**) हृदय के अभ्यन्तर है (**एतद्+ब्रह्म**) यही ब्रह्म है (**इतः**) यहां से (**प्रेत्य**) मरकर (**एतम्**) इसी परमात्मा का (**अभिसंभवितास्मि**) प्राप्त होने वाला हूं (**इति**) (**यस्य**) जिस विद्वान्पुरुष की (**यस्य+स्यात्**) ऐसी श्रद्धा हो और (**न+विचिकित्सा+अस्ति**) उसे संशय नही वह भी इसी ब्रह्मको प्राप्त होगा (**इति+ह**) इसी विषय को (**शाण्डिल्यः**) महर्षि शाण्डिल्य (**आह+स्म**) अपने शिष्य और अन्यपुरुषों से कहा करते थे।

यहां शाण्डिल्य महर्षि भी वही कह रहे हैं जो हम ऊपर प्रतिपादित कर आयें हैं। पुनः शंका हो सकती है कि संभव है यहां हृदय से मस्तिष्क लिया हो ? नहीं ऐसा संभव नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त प्रकरण में हमने दिखाया कि छान्दोग्योपनिषद् कार ने जिस हृदय का वर्णन किया है उसमें पांच इन्द्रियों के लिए पांच द्वार हैं। अब ऐसा तो है नहीं कि छान्दोग्य कार एक जगह हृदय स्तनों के बीच वाले को कहें और एक जगह हृदय मस्तिष्क को कहें परन्तु ग्रंथ विस्तार भय से मस्तिष्क ना लिखें? यह तो आपकी कपोल कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं। और यह भ्रम तो निकाल ही दीजिए कि मस्तिष्क शब्द पूर्वकाल में प्रयोग नहीं होता था मैं वेद वाले प्रकरण में इसका भी वर्णन कर आया हूं स्वंय वेदमन्त्र में ही मस्तिष्क और हृदय अलग-अलग लिखे हुए हैं।

पुनः छान्दोग्योपनिषद् कार ८/१/१ में लिखते हैं—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्मदहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

व्याख्या— (**अथ**) अनन्तर अर्थात् सप्तम प्रपाठक में भूम (**भूमा**) विद्या की समाप्ति हो गई उसके अनन्तर चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये दहराकाश विद्या का आरम्भ होता है (**अस्मिन्**) इस (**ब्रह्मपुरे**) शरीर में (**यद्+इदम्**) जो यह (**दहरम्**) स्वल्प सूक्ष्म (**पुण्डरीकम्**) कमल (**वेश्म**) गृह हैं (**अस्मिन्**) इस कमल गृह में (**दहरः**) सूक्ष्म (**अन्तराकाशः**) मध्यवर्ती आकाश अर्थात् ब्रह्म है (**तस्मिन्**) उस दहराकाशवाच्य ब्रह्म में (**यदन्तः**) जो अन्तर्वर्ती गुण

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

समूह है (**तत्**) वे दोनों ब्रह्म और ब्रह्म का गुण (**अन्वेष्टव्यम्**) खोजने योग्य हैं और (**तद्+वाव**) वे ही (**विजिज्ञासितव्यम्**) विशेषरूप से विजिज्ञासनीय हैं। यद्वा (**अस्मिन्**) इस कमल गृह में (**दहरः+अन्तराकाशः**) सूक्ष्म मध्यवर्ती आकाश अर्थात् अवकाश है (**तस्मिन्**) उस आकाश में (**यदन्तः**) जो अन्तर्वर्ती वस्तु है (**तद्+अन्वेष्टव्यम्**) इत्यादि पूर्ववत्॥

तञ्चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ? सब्रूयात्॥ २॥

व्याख्या— पूर्वोक्त उपदेश सुन उस उपदेष्टा आचार्यमें श्रद्धा वा विश्वास न रखते हुए कोई शिष्य आदि अथवा संदिग्ध पुरुष (**तम्+चेत्**) यदि उस उपदेष्टा से (**ब्रूयुः**) पूछे कि (**अस्मिन्**) इस (**ब्रह्मपुरे**) परमात्मा का पुर अर्थात् शरीर में (**यदिदम्**) जो यह (**दहरम्**) अल्प (**पुण्डरीकम्**) कमल सदृश (**वेश्म**) गृह है। और (**अस्मिन्**) इस पुण्डरीक गृह में जो (**दहरः**) सूक्ष्म (**अन्तराकाशः**) मध्यवर्ती आकाश है (**अत्र**) इस दहराकाश में (**किं+तद्**) कौनसी वह वस्तु (**विद्यते**) विद्यमान है (**यद्+अन्वेष्टव्यम्**) जो अन्वेष्टव्य और (**यद्वाव**) जो ही (**विजिज्ञासितव्यम्**) विशेष रूप से विजिज्ञासनीय होवे। इस प्रकार जब शिष्यादि पूछे तब (**सः+ब्रूयात्**) वह उपदेष्टा क्ष्वयमाण वचन कहे इति॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते। उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि। यच्चास्येहास्ति यच्चानास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति॥ ३॥

व्याख्या— वह उपदेष्टा आचार्य उन संदिग्ध जिज्ञासुओं से कहे कि (**यावान्**) जितना प्रमाण का (**वै**) निश्चय (**अयम्**) यह (**आकाशः**) भौतिक आकाश है (**तावान्**) उतना प्रमाण का (**एषः**) यह (**अन्तर्हृदयः**) हृदयान्तर्वर्ती (**आकाशः**) आकाशाख्य ब्रह्म है (**अस्मिन्**) इस आकाशाख्य ब्रह्म में (**उभौ**) दोनों (**अग्निः+च+वायुः+च**) अग्नि और वायु (**उभौ**) दोनों (**सूर्याचन्द्रमसौ**) सूर्य और चन्द्र (**विद्युन्नक्षत्राणि**) विद्युत् और नक्षत्र ये सब इसमें समाहित हैं (**अस्य**) इस साधक का (**इह**) इस लोक में (**यच्च+अस्ति**) जो है (**यच्च+नास्ति**) और जो नहीं है (**तत्+सर्वम्**) सबही (**अस्मिन्**) इस आकाशाख्य ब्रह्म में (**समाहितम्**) अच्छे प्रकार से स्थित है इति॥

तञ्चेद्ब्रूयुरस्मिं श्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वं समाहितं सर्व्वाणि च भूतानि सर्व्वे च कामा यदैत(न)ज्जरावाऽऽनोति प्रध्वं सते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति॥ ४॥

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

व्याख्या— (**चेत्**) यदि (**तम्**) उस उपदेष्टा आचार्य से (**वयः**) संदिग्धशिष्य जिज्ञासा करे कि (**चेत्**) यदि (**अस्मिन्+ब्रह्मपुरे**) इस ब्रह्मपुर अर्थात् विज्ञान में (**सर्व+समाहितम्**) सब कुछ अच्छे प्रकार स्थित है (**सर्वाणि च भूतानि**) और सब प्राणी का ज्ञान (**सर्वे च कामाः**) सर्व कामानाएं सम्यग् प्रकारसे स्थित हैं तो (**यदा**) जब (**जरा**) वृद्धावस्था (**एतत्**) इस शरीर को (**आप्नोति**) प्राप्त होती है तो (**प्रध्वं+सते+वा**) यह शरीर अवश्य ही नष्ट हो जाता है (**ततः**) तब (**किम्**) क्या (**श्रुतिशिष्यते**) अवशेष बाकी रह जाता है (**इति**) ॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाःसमाहिता एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपि पासःसत्यकामःसत्यसङ्कल्पो यथाह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्तियं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

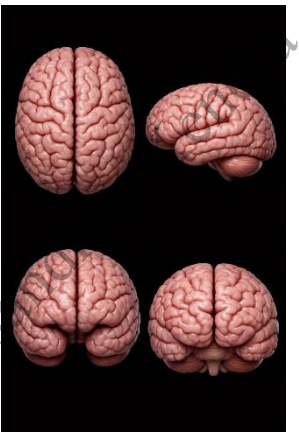
व्याख्या— (**सः**) वह उपदेष्टा शिक्षक (**ब्रूयात्**) उन संदिग्ध शिष्यों से कहे कि (**अस्य**) इस शरीर की (**जरया**) वृद्धावस्था से (**एतत्**) यह ब्रह्मपुर अर्थात् ब्रह्म (**न+जीर्यति**) जीर्ण नहीं होता (**अस्य बधेन**) इस के बध से (**न+हन्यते**) यह हत नहीं होता क्योंकि (**एतद्+ब्रह्मपुरम्**) यह ब्रह्मपुर=ब्रह्म (**सत्यम्**) सत्य, अविनश्वर है (**अस्मिन्**) इस ब्रह्मपुर में (**कामाः**) कामनाएं (**समाहिताः**) सम्यक् प्रकार स्थित हैं। आगे यह कहा जाता है कि जो इस ब्रह्मपुर में निवास करता है वह कैसा है (**एषः**) यह अन्तराकाशाख्य ब्रह्म (**आत्मा**) सर्वव्यापक है (**अपहतपाप्मा**) अपहतविनष्ट व्यपगत है पाप जिसका अर्थात्विशुद्ध (**विजरः**) जरा अवस्था रहित (**विमृत्युः**) मृत्युरहित (**विशोकः**) जिस को शोक न हो (**विजिघत्सः**) जिसको खाने की इच्छा न हो (**अपिपासः**) जिस को पीने की इच्छा न हो (**सत्यकामः**) और जिस की कामनाएं कभी व्यर्थ न हों (**सत्यसङ्कल्पः**) जिस के सङ्कल्प भी सत्य ही हो ऐसा जो ब्रह्म है वही अन्वेष्टव्य और विजिज्ञासनीय है। आगे ज्ञाता और अज्ञाता के फल का कथन होता है (**इह**) इस लोक में (**यथा+हि+एव**) जैसे ही (**प्रजाः**) जो प्रजाएं (**यथानुशासनम्**) राजा की आज्ञानुकूल (**अन्वाविशन्ति**) चलने वाली हैं वे प्रजाएं (**यम्+यम्**) जिस-२ (**अन्तम्**) प्रदेश की (**यं+जनपदम्**) जिस-२ जनपद की (**यम्+क्षेत्रभागम्**) जिस-२ क्षेत्रभाग की (**अभिकामाः**) कामना करने वाली (**भवन्ति**) होती हैं (**तम्+तमेव+उपजीवन्ति**) उसी-२ प्रदेशादि को राजा की कृपा से पाकर जीविका निर्वाह करती हैं॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

छान्दोग्य के इस प्रकरण में उस हृदयस्थ पुण्डरीक को ब्रह्मपुर कहा है। और वहीं पर ब्रह्म खोज करने योग्य है क्योंकि ब्रह्म वहीं पर सुलभता से प्राप्त हो सकता है। अन्य कोई उत्तम स्थान उसे प्राप्त करने का नहीं है। अस्तु।

पुण्डरीक का अर्थ कमल होता है अर्थात् वह हृदय जहां आत्मा का निवास है वह कमल के सदृश है। यदि हम दोनों स्तनों के बीच वाले मांस पिण्ड को ध्यानपूर्वक देंखे तो वह उल्टे कमल के समान ही लगता है। चलिए इसको भी चित्र के माध्यम से देखते हैं—





यहां आप चित्र में स्पष्टतः देख सकते हैं कि जो हृदय है वह कमल के ही सदृश है। इसलिए ही उस ब्रह्मपुर को मन्त्र में पुण्डरीक कहा है। जबकि दूसरा चित्र जो मैंने दिया है वह मस्तिष्क का चित्र है। मस्तिष्क वाला चित्र एक प्रतिशत भी कमल के सदृश नहीं है। किसी भी तरफ से वह कमल के सदृश नहीं है, पुनः हठता करना कि मस्तिष्क को ही पुण्डरीक कहा है यह अविद्वानों की सी बात है।

पुनः अगले मन्त्र में शिष्य द्वारा यह आशंका की जा रही है कि उस हृदय पुण्डरीक में किसकी खोज करें कौन अन्वेष्टय है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि इस हृदय पुण्डरीक में जो ब्रह्म है वही विजिज्ञासितव्य है। पुनः शिष्य आशंका करता है कि यदि हम वह पुण्डरीक नष्ट कर देंवे तब तो वह आत्मा भी नष्ट हो जायेगी? आचार्य कहते हैं कि नहीं वह आत्मा तो अजर अमर है पुण्डरीक के नष्ट होने से वह थोड़ी ही नष्ट होगी। ऐसी ही शंका आजकल के शास्त्र ना पढ़े अज्ञानियों की भी है। कहते हैं कि हृदय तो आजकल सर्जरी के द्वारा ट्रांसप्लांट किया जा सकता है तब तो जो आत्मा है वह भी ट्रांसप्लांट हो

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

जायेगी। उसी का यहां पर उत्तर दिया गया है कि हृदय के नष्ट होने से वह थोड़ी नष्ट होगा। और बात यह है कि सांख्यशास्त्र का एक बड़ा ही उत्तम सूत्र है—

असङ्गोऽयंपुरुष इति ॥ १५॥

यह पुरुष तो सङ्ग रहित है। तात्पर्य यह है कि सङ्ग वाले पदार्थों की अवस्था बदलती है क्योंकि उनमें कभी कुछ जुड़ जाता है, कभी कुछ उन से निकल जाता है।

असङ्गः—अर्थात् जो किसी से भी सङ्ग (संयोग, आसक्ति, संसर्ग) में नहीं आता। यहाँ पुरुष को समस्त उपाधियों, विकारों और सम्बन्धों से सर्वथा रहित बताया गया है।

सङ्ग का स्वभाव यह है कि जहाँ सङ्ग होता है वहाँ परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। जो वस्तु किसी से जुड़ती है, वह जुड़ने से पहले जैसी थी, वैसी नहीं रहती और जो वस्तु किसी से पृथक् होती है, वह भी पृथक् होने के पश्चात् पूर्वावस्था में नहीं रहती। इस प्रकार सङ्ग और वियोग दोनों ही परिवर्तन के कारण हैं। अतः जिन पदार्थों में सङ्ग है, वे विकारी हैं, क्षणिक अवस्थाओं के अधीन हैं और काल-परिणाम के बन्धन में आबद्ध हैं। इसके विपरीत पुरुष का स्वरूप न तो किसी से जुड़ता है और न किसी से अलग होता है। उसमें न वृद्धि है, न क्षय; न आगमन है, न निर्गमन। अतः "असङ्गोऽयं पुरुषः" का तात्पर्य है कि वही एक ऐसा तत्त्व है जो समस्त परिवर्तनशील अनुभवों के बीच भी स्वयं अपरिवर्तित, अव्यभिचारी और शुद्ध चेतनस्वरूप बना रहता है। जब वह पुरुष असङ्ग है कहीं किसी से जुड़ा हुआ है ही नहीं पुनः यह कहना कि हृदय ट्रांसप्लांट हो जाने से आत्मा भी हट जायेगी। तो मैं पूछता हूं क्या आपकी आत्मा हृदय से फेवीकोल से जुड़ी हुई है क्या? बड़ी ही मूर्खतापूर्ण उक्ति है आपकी। आत्मा तो हृदयाकाश मे रहती है जो दोनों स्तनों के मध्य है। अस्तु।

आगे छान्दोग्योपनिषद् ८/३/३ में कहते हैं कि--

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥ ३॥

व्याख्या— (**वै**) इसमें निश्चय ही है कि (**सः+एषः+आत्मा**) सो यह आत्मा परमात्मा (**हृदि**) हृदय कमल में है। क्योंकि हृदय शब्द का अर्थ भी यही है सो आगे कहते हैं (**तस्य**) उस हृदय का (**एतदेव**) यही (**निरुक्तम्**) निर्वचन=शब्द व्युत्पत्ति अर्थात् शब्दार्थ है क्या है। सो कहते हैं (**हृदि**) हृदय में (**अयम्**) यह परमात्मा जिस कारण है (**तस्मात्**) उसहेतु (**हृदयम्**)

Kapil Saankhya Yog Anusandhan Kendra

हृदयम् कहलाता है। अतः (**एवंविद्**) ऐसा जानने वाला विद्वान् (**अहः+अहः+वै**) निश्चय दिन-दिन (**स्वर्गम्+लोकम्**) सुखधाम ब्रह्मरूप लोक को (**एति**) प्राप्त होता है॥

अर्थात् हृदय को हृदय कहा ही इसलिए जाता है क्योंकि वहां परमात्मा रहता है।

आगे छान्दोग्योपनिषद् ८/६/१ में आत्मा की मरणोपरांत गति का वर्णन है। कैसे एक योगी की आत्मा शरीर से निकलती है और कैसे एक साधारण मनुष्य की। वह पूरा प्रकरण मैं यहां व्याख्या सहित प्रस्तुत कर रहा हूं उस व्याख्या से ही पाठक समझ जायेंगे की आत्मा मस्तिष्क में रहती है अथवा हृदय में।

अथ या एतां हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः॥ १॥

व्याख्या— मरण समय में यह जीवात्मा स्वकर्म निर्दिष्ट शरीर मार्ग से निकलता है। सुना जाता है कि नेत्र से अथवा श्रोत्र से अथवा मुखसे अथवा अन्य किसी मार्ग से यह जीवात्मा शरीर से निकलता है। इस शरीर में कोई मार्ग विशेष है। जिससे निकलते हुए जीवात्मा को सुख प्राप्त होता है। परन्तु उस मार्ग को सब कोई नहीं पाते। ब्रह्मचर्यादिसाधन सम्पन्न, त्यक्तवाह्यविषयानृततृष्ण, विजितेन्द्रियग्राम, अन्तर्मुखीन, आवृत्तचक्षु, शान्त, दान्त होकर हृदय पुण्डरीकगत यथोक्त गुण सहित ब्रह्मकी उपासना करता हुआ कोई सहस्रों में उस मार्ग को पाता है। उस पुरुष की मूर्धनी नाड़ी से गति होती है जिस से जाता हुआ ब्रह्मचारी सुख प्राप्त करता है। इसे ही दर्शाने के लिये इस खण्ड का आरम्भ होता है। (**अथ**) अब गति को कहेंगे (**याः एताः**) जो ये वक्ष्यमाण हृदयस्थ पुण्डरीकाकार और ब्रह्मोपासना स्थान हृदय की (**नाड्यः**) नाड़िएं है। जो हृदय के मांसपिण्ड से, सूर्यमण्डल से किरण की नाई सम्पूर्ण शरीर में विस्तृत हैं (**ताः**) वे हृदय की नाडिएं (**पिङ्गलस्य**) पिङ्गलवर्ण वाले (**अणिम्नः**) अति सूक्ष्म रसके रससे पूर्ण हैं इसी प्रकार (**शुक्लस्य**) श्वेत (**नीलस्य**) कृष्णवर्ण (**पीतस्य**) पीतवर्ण (**लोहितस्य**) रक्तवर्ण वाले (**अणिम्नः**) सूक्ष्म रसके रससे पूर्ण हैं ये नाडिएं पिङ्गल, श्वेत, कृष्णादिवर्ण वाली कैसे होती हैं। उसपर ऋषि कहते हैं कि सूर्य के सम्बन्ध से ही नाडियों के वर्ण भी होते हैं इस हेतु प्रथम सूर्य के वर्ण कहे जाते हैं (असौ+वै+आदित्यः) यही सूर्य (**पिङ्गलः**) पिङ्गल वर्ण है (**एषः+शुक्लः**) यही शुक्ल (**एषः+नीलः**) यही कृष्णवर्ण (**एप+पीतः**) यही पीत (**एषः+लोहितः**) यही रक्तवर्ण है अर्थात् सूर्य में ही सब वर्ण हैं उसी की किरण के द्वारा सर्वत्र वर्ण प्राप्त होता है। शरीर के अभ्यन्तर भी सूर्य का ताप

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

पहुंचता है अतः नाड़ियों के तत्तत्रंग होते हैं। नाड़ियों का यहां किञ्चित् लक्षणमात्र कहागया है। सूर्य में प्रधानतया सात रंग हैं अश्व कहलाते हैं और इसी हेतु सूर्य को सप्ताश्व लोक में कहते हैं। जगत् में जो कुछ रंग देखा जाता है वह सूर्य के द्वारा ही आता है विज्ञानशास्त्र के द्वारा इसे जानो॥

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमञ्चामुञ्चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमञ्चामुञ्चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते। ता आसुनाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते। तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः॥ २॥

व्याख्या— दूरस्थ आदित्य का इन हृदयस्थ नाडियों से कैसे सम्बन्ध होता है इसको दिखाने के लिये इस द्वितीय प्रवाकको आरम्भ करते हैं (**तत्**) इस पूर्वोक्त विषय में ऐसा जाने (**यथा**) जैसे (**आततः**) बहुत दूरतक व्याप्त (**महापथः**) महान् विस्तीर्ण मार्ग (**इमञ्च**) 'इस समीपस्थ (**अमुञ्च**) और उस दूरस्थ ग्राम (**उभौ+ग्रामौ**) दोनों ग्रामों को (**गच्छति**) पहुंचता है अर्थात् महाविस्तीर्णमार्ग आदि अन्त और मध्य कई ग्रामों को जाता है (**एवम्+एव**) इसी दृष्टान्त के समान (**आदित्यस्य**) सूर्य की (**एताः+रश्मयः**) ये किरणें (**इमञ्च**) इससूर्य मण्डल को (**अमुञ्च**) और सूर्य मण्डल से उस 'दूरस्थ' पुरुषको भी (**उभौ+लोकौ**) अर्थात् दोनों लोकों को (**गच्छन्ति**) प्राप्त होते हैं (**ताः**) वे सूर्य की किरणें (**अमुष्मात्**) उस (**आदित्यात्**) सूर्य से निकल (**प्रतायन्ते**) चारों तरफ विस्तीर्ण होती हैं इस प्रकार विस्तीर्ण होती हुई (**आसु+नाडीषु**) इन नाड़ियों में (**सृप्ताः**) गत प्रविष्ट होती हैं। इस प्रकार सूर्य की किरणद्वारा हृदयस्थ नाड़ियें अनेक रंगवाली होती हैं (**ते**) वे किरण (**आभ्यः+नाडीभ्यः**) इन नाड़ियों से निकलकर (**प्रतायन्ते**) वाह्य शरीर में विस्तीर्ण होते हैं और इस प्रकार पुनः (**अमुष्मिन्+आदित्ये**) उस आदित्य में (**सृप्ताः**) गत प्रविष्ट होते हैं। यद्यपि इन नाड़ियों से सूर्य की किरणें निकल कर सूर्य में पुनः नहीं पहुंचती हैं क्योंकि प्रत्यक्षतया लौटती हुई नहीं दीखती और असम्भव प्रतीत होता है तथापि लौकिक दृष्टि से विदित होता है कि सम्पूर्ण उष्णता सूर्य से आकर पुनः उसी में लौट जाती है अत्यया वह उध्याता कहां गई इसका वर्णन होना कठिन होगा॥ २॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विज्ञानात्यासु तदा नाडीषु स्तृप्तो भवति। तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हितदा सम्पन्नो भवत्ति॥ ३॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— (**तत्**) ऐसा होने पर (**यत्र**) जिस काल में (**एतत्**) यह स्वप्नवान् जीवात्मा (**सुप्तः**) सुषुप्तावस्था को प्राप्त (**समस्तः**) अपने में लीन अर्थात् इन्द्रियाँ की सकल वृत्तियों को जिसने अपने में संहार कर लिया है (**अत एव सम्प्रसन्नः**) वाह्यविषय सम्बन्धजनित दुःखों से विनिर्मुक्त होने के कारण सब प्रकार से आनन्द स्वरूप होता है और उस समय में (**स्वप्नम्+न+विजानाति**) स्वप्न को नहीं देखता (**तदा**) तब (**आसु+नाडीषु**) इन नाडियों में से पुरीतति नाम नाड़ी में (**सृप्तः+गवति**) गत प्रविष्ट रहता है उस समय (**कश्चन+पाप्मा**) कोई पाप अर्थात् सुखदुःखादिद्वन्द्व (**तम्**) उस जीवात्मा को (**न+स्पृशति**) स्पर्श नहीं करता। (**हि**) क्योंकि (**तदा**) तब (**तेजसा**) अपने सम्पूर्ण तेज से (**सम्पन्नः**) संयुक्त (**भवति**) रहता है॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति। स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति॥ ४॥

व्याख्या— (**अथ**) अनन्तर (**यत्र**) जिसकाल में यह जीवात्मा (**एतत्+अबलिमानम्**) जरा रोगादि निमित्त मृत्यु जनक दुर्बलता को (**नीतः+भवति**) प्राप्त होता है तब (**तम्+अभितः**) उसके चारों तरफ उस के सम्बन्धिक लोग (**आसीनाः**) बैठ कर (**आहुः**) कहते हैं (**माम्+जानासि**) मुझ को जानते हो ? (**माम्+जानासि**) मुझ को जानते हो? (**इति**) इस प्रकार मरणापन्न मनुष्यसे उस के इष्ट मित्रादिक पूछा करते हैं (**सः**) वह मरणापन्न मनुष्य (**यावत्**) जब तक (**अस्मात्+शरगित्**) इस शरीर से (**अनुत्क्रान्तः+भवति**) नहीं निकलता है (**तावत्+जानाति**) तब तक जानता है॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते। स ओमिति वा होद्वा मीयते। स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्॥ ५॥

व्याख्या— (**अथ**) अनन्तर (**यत्र**) जिसकाल में (**एतत्**) यह जीवात्मा (**अस्मात्+शरीरात्**) इस शरीर से (**उत्क्रामति**) ऊपर उठने को होता है अर्थात् मरण काल प्राप्त होता है (**अथ**) तब (**एतैः+एव**) इन्हीं (**रश्मिभिः**) रश्मिवत् देह में व्याप्त नाड़ियों के द्वारा अर्थात् इन नाड़ियों में से किसी नाड़ी के द्वारा (**ऊर्ध्वम्**) ऊपर को जाता है यह गति सर्व साधारणों की होती है। आगे विद्वानों की गति कही जाती है। (**सः**) वह विद्वान् पुरुष (**ओम्+इति+वा**) ब्रह्म का ही ध्यान करता हुआ वा उसी का उच्चारण वा स्मरण करता हुआ (**उत्**) ऊपर को

KapilSankhyaYogAnusandhanKendra

(**वा**) ही (**मीयते**) जाता है (**स**) वह (**यावत्**) जब तक (**मनःक्षिप्येत्**) मन का क्षय करता है। अर्थात् धीरे-२ जब तक उस का मन क्षीण होता है। (**तावत्**) तब तक (**आदित्यं+गच्छति**) आदित्य रूप द्वार को अर्थात् सौरी दशाको प्राप्त होता है (**एतद्+वै+खलु**) निश्चय यही (**लोकद्वारम्**) ब्रह्म लोक का द्वार है (**विदुषाम्+प्रपदनम्**) विद्वानों का मार्ग है (**अविदुषाम्+निरोधः**) अविद्वानों का निरोध रुकावट का स्थान है॥

यहांतक तात्पर्य यह है कि इस प्रकरण में विद्वानों की आत्मा और साधारण मनुष्य की आत्मा कैसे निकलती है इसका वर्णन है। कहते हैं कि साधारण मनुष्य होता है उसकी आत्मा मरणसमय किसी भी एक नाड़ी से निकल जाती है। जबकि विद्वान पुरुष की आत्मा ऊपर को जो सुषुम्ना नाम की नाड़ी जाती है उससे निकलती है। सुषुम्ना नाड़ी का उल्लेख आगे आयेगा।

तदेषश्लोकः। शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्त्वमेति विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ ६॥

व्याख्या— (**तत्**) उस विषय में (**एषः+श्लोकः**) यह श्लोक है (**हृदयस्य**) हृदय सम्बन्धी (**शतम्**) सौ (**एका+च**) और एक (**नाड्यः**) नाड़ियां हैं। चकार शब्द से हृदय में अनेक नाड़ियां हैं यह सूचित होता है। उनमें प्रधान एकसौ एक नाड़ियां हैं (**तासाम्**) उन नाड़ियों में से (**एका**) एक नाड़ी (**मूर्धानम्+अभिनिःसृता**) मूर्धा की ओर निकली हुई है (**तया**) उस नाड़ी से (**ऊर्ध्वम्+आयन्**) ऊपर को जाता हुआ (**अमृतत्वम्+एति**) अमृतत्व को पाता है (**अन्याः**) अन्य नाड़ियां (**विष्वङ्**) विविध प्रकार की हैं परन्तु अमृतत्व के लिये नहीं तो पुनः किस लिये हैं ? सो आगे कहते हैं (**उत्क्रमणे+भवन्ति**) केवल उत्क्रमण मात्र के लिये होते हैं॥ ६॥

प्रथम मन्त्र में जिन नाड़ियों का उल्लेख है वह सारी नाड़ियां हृदय से निकल शरीर के अन्य-अन्य भागों में जाती हैं। और एक नाड़ी जिसका नाम सुषुम्ना है वह हृदय से निकल मस्तिष्क तक जाता है। मुख्यतः १०१ नाड़ियां हैं। आगे कहते हैं कि मरणापन्न अवस्था में जीवात्मा शरीर की अलग-अलग नाड़ियों से निकल बाहर दूसरे शरीर में जाता है। यहां भी यह स्पष्ट हो रहा है कि आत्मा हृदय में ही रहती है तभी तो उस हृदय की नाड़ियों से निकलेगी। अन्यथा यदि मस्तिष्क में हो तब नाड़ियों से निकलने की बात उपनिषत्कार को नहीं लिखना चाहिए। पुनः आगे लिखते हैं कि जो साधारण अज्ञानी मनुष्य हैं वह हृदय कि १०१ नाड़ियों में से १ को छोडकर किसी भी नाड़ी से शरीर के बाहर निकल जाती है।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

परन्तु जो ज्ञानी पुरुष अर्थात् मुक्ति को पाने वाले योगी पुरुष हैं उनके लिए शरीर से निकलने की केवल एक ही नाड़ी है जिसका नाम सुषुम्ना है। उपनिषत्कार कहते हैं कि वह जो सुषुम्ना नाड़ी है वह हृदय से निकलती है और मूर्धा अर्थात् मस्तिष्क तक जाती है। (**तया+उर्ध्वम+आयन्+अमृतत्वम्+एति**) उस नाड़ी से योगी पुरुष ऊपर को जाता हुआ अमृत्व को पाता है।

इससे क्या आया कि आत्मा हृदय में है तभी तो वह हृदय से उस विशिष्ट नाड़ी के द्वारा ऊपर की ओर जायेगा। अन्यथा यदि आत्मा मस्तिष्क में ही हो तो उसे कहीं ऊपर जाने की आवश्यकता ही नहीं है। दूसरी बात अन्तिम जो इस प्रकरण का छठा मन्त्र है उसमें हृदय को और मस्तिष्क को अलग-अलग कहा है वह ऊपर मन्त्र में देख सकते हैं। स्पष्ट कहा है कि नाड़ियां हृदय से निकलकर ऊपर मूर्धा की ओर जाती है। एक क्षण के लिए यदि यह मान लें कि यहां हृदय का अर्थ मस्तिष्क है तब यहां मन्त्र में ऊपर की ओर नाड़ी गई है। यह जो कहा है यह कहना व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि शरीर में मस्तिष्क ही सबसे ऊपर है और ऊपर में भी अन्तिम ग्रंथि वही है। यदि हृदय यहां मस्तिष्क है तो मूर्धा क्या है? क्या मानव शरीर में सर के ऊपर भी एक सर होता है जहां प्रथम सर से दूसरे सर तक एक नाड़ी गई हो? यह तो केवल मस्तिष्क वादियों की असंभव और सृष्टि नियम विरुद्ध कथा है। अस्तु। इस सम्पूर्ण प्रकरण में छान्दोग्योपनिषद् कार ने मस्तिष्क वादियों का सम्पूर्ण मत ही नष्ट कर दिया। फिर भी यदि कोई हठधर्मिता करे तो ऐसे व्यक्ति को तो साक्षात् ब्रह्मा जी भी नहीं समझा सकते।

॥ बृहदारण्यकोपनिषद् और आत्मा ॥

छन्दोग्य के पश्चात अब बृहदारण्यकोपनिषद् के आत्म प्रकरणों का विचार किया जाएगा कि क्या इस उपनिषद् में छन्दोग्य कि भांति हृदय का वर्णन है अथवा मस्तिष्क का।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतश्चतुर्गृहीतंश्रोत्रं गृहीतं मनः ॥ १७ ॥ [बृहदारण्यक २/१/१७]

Kapil Saankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— (**सः ह अजातशत्रुः उवाच**) वे अजातशत्रु बोले हे बालाके ! (**यत्र**) जिस काल में (**एषः**) यह जीवात्मा (**एतत्**) इस शयन को (**सुप्तः अभूत्**) कर रहा था (**यः एषः**) जो यह (**विज्ञानमयः**) अधिक ज्ञानवान् है। और (**पुरुषः**) विविधकर्म करने हारा है ऐसा जीवात्मा जब शयन करता है (**तद्**) उस समय (**एषाम् प्राणानाम्**) इन सकल इन्द्रियों के (**विज्ञानम्**) स्वस्वविषय-ग्रहण सामर्थ्य को (**विज्ञानेन**) निज-विज्ञान-कुशलता से (**आदाय**) लेकर (**तस्मिन् शेते**) उस आकाश में सो जाता है। (**यः एषः आकाशः**) जो यह आकाश (**अन्तर्हृदये**) हृदय के मध्य में है कैसे समझते हैं कि वह सोता है। इस हेतु जीवात्मा का यौगिक नाम कहते हैं (**यदा**) जब (**तानि**) सकळ इन्द्रियों को (**गृह्णाति**) अपने वश में आत्मा ले आता है (**अथ पुरुषः**) तब यह पुरुष (**स्वपिति नाम**) "**स्वपिति**" ऐसे नाम को धारण करता है अर्थात् जीवात्मा का नाम ही दिखलाता है कि यह सोता है, जब सोता है तब इन्द्रियों की क्या दशा होती है सो आगे कहते हैं। (**तत्**) उस समय (**प्राणः**) घ्राणेन्द्रिय (**गृहीतः एव**) बद्ध ही (**भवति**) रहता है। अपने व्यापार से निवृत्त ही रहता है। इसी प्रकार (**वाग् गृहीता**) वाणी का व्यापार भी बन्द रहता है (**चक्षुःगृहतिम्**) नयन भी व्यापारशून्य हो जाता (**श्रोत्रम्**) श्रवणेन्द्रिय भी बन्द ही रहता है (**मनः गृहीतम्**) मननक्रिया भी बन्द रहती है॥

स्पष्ट रुपेण यहाँ आत्मा का स्थान हृदय देश कहा है। यहां भी शंका होना संभव है कि क्या पता यहां हृदयदेश का अर्थ मस्तिष्क हो? चलिए इस शंका के निवारणार्थ इसी अध्याय के १९वें मन्त्र पर दृष्टि डालते हैं।

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नी मानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते॥ १९॥

व्याख्या— (**अथ**) अनन्तर (**यदा**) जब यह जीवात्मा (**सुषुप्तः भवति**) अच्छे प्रकार सो जाता है अर्थात् आत्मा को जत्र सुषुप्ति अवस्था प्राप्त होती है। (**यदा**) जब (**कस्यचन**) किसी पदार्थ के विषय में (**न वेद**) कुछ नहीं जानता है तब उसका नाम सुषुप्त्यवस्था है और उस समय आत्मा "**सुषुप्त**" कहलाता है। इस अवस्था में आत्मा कहां रहता है सो आगे कहते हैं (**हृदयात्**) हृदय देश से (**हिताः**) हित=सुख देनेहारी (**द्वासप्ततिः**) ७२ बहत्तर (**सहस्राणि**) सहस्र (**नाड्यः**) नाड़ियां (**पुरीततम्**) सम्पूर्ण शरीर में (**अभिप्रतिष्ठन्ते**) फैली

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

हुई हैं (**नाम**) यह बात प्रसिद्ध है तो फिर इससे क्या हुआ (**ताभिः**) उन ७२ सहस्र नाड़ियों के द्वारा खूब भ्रमण कर पीछे सब इन्द्रियों को अपने में सिमिट (**पुरीतति**) शरीर में ही (**शेते**) सो जाता है। आगे दृष्टान्त देते हैं (**यथा**) जैसे (**कुमारः**) अत्यन्त बालक (**वा**) अथवा (**महाराजः**) महाराजा (**वा**) अथवा (**महाब्राह्मणः**) परिपक्व विद्यासम्पन्न पूर्ण वेत्ता महाब्राह्मण (**आमन्दस्य**) आनन्द की (**अतिघ्नीम्**) परमाकाष्ठा अन्तिम सीमातक (**गत्वा**) जाकर (**शयीत**) सो जायं (**एवम् एव**) इन्हीं दृष्टान्तों के अनुसार (**सः**) वह (**एषः**) यह आत्मा (**एतत् शेते**) इस सुषुप्त अवस्था में है॥

यहां १९ वीं कण्डिका में स्पष्ट रूप से उन ७२ हजार नाड़ियों का वर्णन है जो कि हृदयदेश में ही रहती है ना कि मस्तिष्क में। उन्हीं नाड़ियों के द्वारा आत्मा शरीर में भ्रमण कर पुनः हृदयदेश में जाकर सो जाता है। इससे क्या आया ? कि आत्मा हृदयदेश में ही रहता है ना कि मस्तिष्क में।

आगे बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य और विदग्ध संवाद प्रकरण में शाकल्य पूछते हैं कि हृदय कहां प्रतिष्ठित है। महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं इसी शरीर में—

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति॥ २४॥

व्याख्या— (**अस्याम् ध्रुवायाम् दिशि किन्देवत असि**) इस ध्रुवा दिशा में है याज्ञवल्क्य ! आप कौन देववाले हैं ?, समाधान (**अग्निदेवत इति सः अग्निः कास्मिन् प्रतिष्ठितः इति**) अग्निदेव वाला हूं। वह अग्नि देव किसमें प्रतिष्ठित है ? (**वाचि इति**) वेदवाणी और मनुष्य की सर्वसाधारण वाणी में। (**वाक् कस्मि नु प्रतिष्ठिता इति हृदये इति**) वह वाणी किसमें प्रतिष्ठित है ?, हृदयस्थ बद्धि में। (**कस्मिन् नु हृदयम् प्रतिष्ठितम् इति**) हृदय किस में प्रतिष्ठित है ?॥

अहंल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्धयेतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैतद्ध्युर्वयांसि वैतद्विमक्षीरन्निति॥ २५॥

व्याख्या— हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ? यह प्रश्न सुन याज्ञवल्क्य कों बड़ा क्रोध हुआ अतिशय कोपित हो विदग्ध वा शाकल्य आदि नामों से इसको सम्बोधन न करके "अहंल्लिक" इस नाम से सम्बोधित कर समाधान करते हैं (**अहंल्लिक इति ह उवाच याज्ञवल्क्यः**) अरे

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

अल्लिक ! निशाचर ! प्रेत ! ऐसा सम्बोधन कर याज्ञवल्क्य बोले (**यत्र एतत् अन्यत्र अस्मत् मन्यासै**) अरे अहल्लिक ! जो तुम इस हृदय को हमसे कहीं अन्यत्र मानते हो अर्थात् हम लोगों के शरीर से कहीं दूसरी जगह इस हृदय को मानते हो (**यद् एतत् अस्मत् अन्यत्र स्यात्**) यदि यह हृदय हमसे अर्थात् हमारे शरीर से कहीं अन्यत्र होता तो (**एतत् श्वानः का अद्युः**) इस शरीर को कुत्ते खा जाते (**वयांसि वा एतत् विमन्थीरन् इति**) अथवा गृध आदिपक्षी इसको नोंच डालते। इससे सिद्ध हुआ कि शरीर में हीं यह हृदय प्रतिष्ठित है। अरे अहंल्लिक ! क्या तू इसे भी नहीं जानता था जो ऐसा प्रश्न किया है। अतः ज्ञात होता है कि तेरी यह जान बूझ कर धृष्टता है॥

इस सम्पूर्ण प्रकरण में भगवान् याज्ञवल्क्य ने केवल एक ही हृदय की बात कही है। और हृदय शरीर में है। अर्थात् इसका सीधा-सीधा आशय यह है कि उपनिषदों में एक ही हृदय का वर्णन है जो कि कण्ठ के नीचे है। यदि भगवान् याज्ञवल्क्य को यहां पर हृदय से मस्तिष्क ग्रहण करना अभिप्रेत होता तब वे स्पष्टतः इस प्रकरण में दो अथवा तीन हृदय की बात कह तीनों का भेद बताते। परन्तु ऐसा नहीं है उन्होंने एक ही हृदय कहा है इस शरीर में और वहीं आत्मा रहती है।

आगे पुनः भगवान् याज्ञवल्क्य स्पष्ट रूप से उपनिषद् में हृदय को मस्तिष्क से अलग बखान करते हैं और यह सत्य स्थापित करते हैं कि हृदय वही है जो कण्ठ के नीचे और दोनों स्तनों के मध्य लोहितमांसपिण्ड है—

अथैतद्वामेऽणि पुरुषरूप मेषाऽस्य पत्नी विराट् तयोरेव संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाऽथैन्नयोरेषा सृतिः संचरणी यैषाहृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वाएतदात्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः॥ ३॥ [बृहदारण्यक ४/२/३]

व्याख्या— (**अथ**) पूर्वकण्डिका में जिस इन्द्र का निरूपण आया है अब उसकी 'स्त्री, भोजन, विश्राम आदि का वर्णन आरम्भ करते हैं (**वामे अक्षणि एतत् पुरुषरूपम्**) वाम नयन में जो यह पुरुषाकार व्यक्ति प्रतीत होती है (**एषा अस्य विराट् पत्नी**) यह इसकी

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

विराट् नाम कीस्त्री है (**तयोः एषः संस्तावः**) इस इन्द्र और इन्द्राणी का यह संस्ताव है अर्थात् जहां मिलकरदोनोंस्तुति वपरस्पर वार्तालाप करते हैं वह संस्ताव है। (**यः एषः अन्तर्हृदये आकाशः**) जो यह हृदय के अभ्यन्तर आकाश अर्थात् अवकाश है (**अथ यः एषः अन्तर्हृदये लोहितपिण्डः**) जो यह हृदय के भीतर लाल पिण्ड है (**एतद् एनयोः अन्नम्**) यह इन दोनों का अन्न है (**अथ यद् एतद् अन्तर्हृदये जालकम् इव**) जो हृदय के मध्य में जाल के समान अनेकानेक छिद्रयुक्त चादर है (**एतत् एनयोः प्रावरणम्**) यह इन दोनों का प्रावरण अर्थात ओढ़ने का वस्त्र है (**अथ या एषा ऊर्ध्वा हृदयाद् नाडी उच्चरति**) जो यह हृदयदेश से ऊपर को नाड़ी गई है (**एषा एनयोः संचरणी सृतिः**) यह इन दोनों की संचरणी सृति है। सृति=मार्ग। संचरणी जिस मार्ग से दोनों इधर उधर विचरण करते हैं वह संचरणी ! अर्थात् नाड़ी हीइन दोनों का चलने फिरने का रास्ता है। और भी अनेक नाड़िया हैं उन्हें भी दृष्टान्त देकर बतलाते हैं। (**यथाकेशः सहस्रधा भिन्नः**) जैसे एक केश के सहस्र भाग किए जायँ वे केश जितने सूक्ष्म पतले होवेंगे (**एवम् अस्य हिताः नाम नाड्यः अतर्हृदये प्रतिष्ठिताः भवन्ति**) वैसे ही इस जीवात्मा की हिता नामधारी बहुतसी नाड़ियां हृदय के अभ्यन्तरप्रतिष्ठित हैं (**एताभिः वै**) इनही नाड़ियों के द्वारा (**एतत् आस्रवत्**) यह सम्पूर्ण देह व्यापक अन्न (**आस्रवति**) सर्वदा जीवात्मा के लिये गिरता रहता है इसी अन्न को मानो, जीवात्मा खाता है (**तस्माद् एषः**) इसी कारण यह जीवात्मा (**अस्मात् शारीरात् आत्मनः**) इस शारीर आत्मा अर्थात् इस देह की अपेक्षा (**प्रविविक्ताहारतरः इव भवति**) बहुत शुद्धाहारी साप्रतीत होता है॥

इस कण्डिका के द्वारा भगवान् याज्ञवल्क्य ने उन सभी मतों को जलाकर भस्म कर दिया जो कहते हैं कि हृदय मस्तिष्क को कहा जाता है। भगवान् याज्ञवल्क्य ने यहां पर हृदय उसी को कहा है जो लोहित मांस पिण्ड है। और जिससे नाड़ियां निकल सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं और वहीं आत्मा रहती है। कहते हैं कि उन्हीं सूक्ष्म नाड़ियों के द्वारा यह सम्पूर्ण देह व्यापक अन्न जीवात्मा के लिए गिरता है। अर्थात् नाड़ियों के द्वारा हृदय में ही जायेगा। क्योंकि वही से नाड़ियां निकलती है वही सम्पूर्ण नाड़ियों को उद्गम स्थल है। आगे पुनः बृहदारण्यकोपनिषद् ४/३/७ में लिखा है–

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव सहि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि॥ ७॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— हे याज्ञवल्क्य ! कौनसा तह आत्मा है ?। याज्ञवल्क्य— जो यह विज्ञानमय, इन्द्रियों से [अर्थात सूक्ष्म शरीर से] परिवेष्ठित हृदय में विराजमान स्वयं ज्योत्तिःस्वरूप पुरुष है (वह आत्मा है) यद्वा जो यह इन्द्रियों में विज्ञानमय, हृदय में रहने वाला स्वयं ज्योतिःस्वरूप पुरुष हैं । वह एक रससे दोनों लोकों में गमन करताहै। मानो, ध्यान करता हुआ और अभिलाषा करता हुआ दोनों लोकों में गमन करता है। परन्तु वह स्वप्नत्रान् होकर इस लोक को और दुःख के रूपों को लांघ जाता है॥

आगे हृदय शब्द का अर्थ बताते हुए बृहदारण्यक ५/४/१ में लिखते हैं—

एष प्रजापतिर्यहृदयमेतद्ब्रह्मतत्सर्वं तदेतत्त्र्यचरं हृदयमिति ह इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेदयमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद॥ १॥

व्याख्या— उपनिषदों में और इस अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में भी प्रजापति शब्द प्रयुक्त हुआ है प्रजापति कोई पुरुष है या अन्य इन्द्रियादिक है इस निश्चय के लिये आगे कहते हैं कि यह हृदय ही प्रजापति है अन्य कोई पुरुष विशेष प्रजापति नहीं। यथा (**एषः प्रजापतिः यद् हृदयम्**) जो यह हृदय है यही प्रजापति है (**एतद् ब्रह्म एतत् सर्वम्**) यह हृदय ही ब्रह्म अर्थात् महान् अनन्त है। यह सब है (**तत् एतत् त्र्यक्षरम् हृदयम्**) सो यह हृदय शब्द त्र्यक्षर है। इसमें तीन अक्षर हैं (**ह इति एकम् अक्षरम्**) इसमें एक अक्षर ह्र है ह्रञ् हरणे=हरणार्थक ह्र धातु से यह ह्र बना है क्योंकि (**अस्मै स्वाः च अन्ये च अभिहरन्ति**) निज नेत्र कर्णादि इन्द्रियगण और अन्य शब्द स्पर्शादि विषय अपने-२ कार्य को लाकर इसी हृदय को समर्पण करते हैं अतः हृदय शब्द का ह्र अक्षर हुञ् धातु से आया है (**यः एवम् वेद**) जो उपासक इसको इसी प्रकार जानता है उसको भी निज बन्धु बान्धव और अन्य दूरस्थ पुरुष भी विविध पदार्थ समर्पण करते हैं। (**दः इति एक म् अक्षरम्**) इसमें द यह एक अक्षर है। यह दानार्थक दा धातु से आया है। क्योंकि (**स्वाः च अन्येच अस्मै ददति**) निज इन्द्रिय और अन्य शब्दादि विषय बाहर से लाकर देते हैं। अतः हृदय शब्द का दकार दा धातु से आया है। (**यः एवम् वेद**) जो उपासक ऐसा जानता है उसको भी निज और पर धन समर्पण करते हैं (**यम् इति एकम् अक्षरम्**) इसमें एक अक्षर "यम्" है यह "इण गतौ" गत्यर्थक इण धातु से आया है क्योंकि (**यः एवम् वेद स्वर्गम् लोकम् एति**) जो कोई इस हृदयको ऐसा जानता है वह इस हृदय के द्वारा स्वर्गलोग को जाता है। और इसी हृदय की ओर ज्ञानी पुरुष जाते हैं अर्थात् जिनका हृदय ही प्रथम दुर्बल है वह क्या कर सकता अतः प्रथम

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

हृदय को ही सब प्रकार दृढ़ करे। इन कारणों से होता है कि हृदय का यकार इ धातु से आया है। यही हृदय प्रजापति है अन्य नहीं॥

तात्पर्य यह है कि इसी हृदय के सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊपर की ओर जाता हुआ जीवात्मा स्वर्ग को जाता है। अथवा उस हृदय अर्थात प्रजापति को जानकार स्वर्ग को जाता है। यहाँ भी हृदय का अर्थ मस्तिष्क नहीं है।

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यदा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्व्वस्येशानः सर्व्वस्याधिपतिः सर्व्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च॥ १॥

[बृहदारण्यक ५/७/१]

व्याख्या— (**अयम् पुरुषः मनोमयः**) यह सर्वव्यापी महान् परमात्मा मनोमय अर्थात् ज्ञान विज्ञान मय है। (**भाः सत्यः**) महान तेज ही इसका सत्य स्वरूप है क्या यह हम लोगों के हृदय में भी है ? इस पर कहते हैं- (**तस्मिन् अन्तर्हृदये यथा व्रीहिः वा यवः वा**) वह उस हृदय के मध्य में व्रीहि और यव के समान विद्यमान है। व्रीहि=एक प्रकार का अन्न और यवसे परमात्मा के साकारत्व और स्थूलत्व की जो शङ्का उत्पन्न होती है इसकी निवृत्ति के हेतु आगे कहते हैं (**सः एषः सर्वस्य ईशानः सर्वस्य अधिपतिः**) सो यह सबका ईश्वर है और सबका अधिपति है (**इदम् सर्वम् प्रशास्ति**) इस सब को अपनी आज्ञा में रखता हुआ नियम में बद्ध रखता है (**यत् इदम् किञ्च**) जो कुछ स्थावर जंगममय संसार भासित होता है। उस सबका कर्त्ता धर्त्ता और हर्त्ता वही है॥

बृहदारण्यक उपनिषद् के जितने भी कण्डिका मैंने यहां प्रमाण स्वरूप उपस्थित किये हैं वहां आत्मा का निवास हृदय को ही कहा गया है।

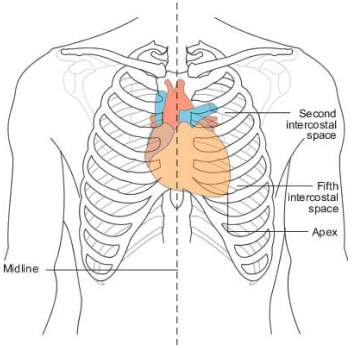
॥ कठोपनिषद् और आत्मा ॥

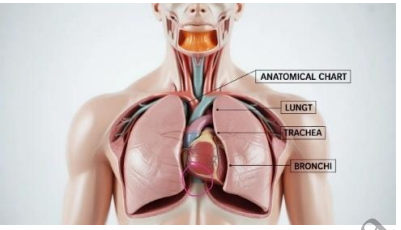
अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वैतत्॥ १२॥ [कठोपनिषद् ४/१२]

व्याख्या— जीवात्मा का निवासस्थान अंगुष्ठमात्र हृदय माना गया है, इसमें रहने वाले जीवात्मा के हृदय में व्यापक होने से परमात्मा को "**अंगुष्ठमात्र**" कथन किया है।

तात्पर्य यह है कि जिस स्थल में आत्मा रहती है वह स्थल अंगुष्ठमात्र हृदयाकाश है। इसका अंगुष्ठमात्र स्थान होने के कारण आत्मा को भी अंगुष्ठमात्र कहा जाता है। अर्थात् जिस क्षेत्र में आत्मा रहती है वह क्षेत्र हमारी उंगलियों में केवल अंगूठे के बराबर है।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra





जैसा कि मैंने ऊपर चित्र में दिखाया है और मैंने वहाँ पर निशान भी लगा दिया है जो दोनों स्तनों के बीच जो हड्डियों का जुड़ाव स्थल है, वह स्थल मात्र अंगूठे जितनी है यानि हम वहां केवल अपना अंगूठा रख सकते हैं जो कि उस स्थल पर एकदम अच्छी प्रकार आ जायेगा। इसी अंगुष्ठमात्र हृदयाकाश में आत्मा का स्थान है। जबकि ऐसा कोई भी स्थान मस्तिष्क में नहीं है जहां हमारा पूरा एक अंगूठा आ जावे।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ ३॥ ५/३

व्याख्या— जीवात्मा हृदय देश में विराजमान है और उसी के समीप प्राण तथा समस्त इन्द्रिय उपस्थित हैं अर्थात् जैसे भृत्य अपने स्वामी की सेवा में तत्पर रहता है इसी प्रकार सब इन्द्रिय उसका सेवन करते हैं, वही अपनी शक्ति से प्राणवायु को ऊपर ले जाता है और अपानवायु को नीचे फेंक देता है।

भला जब आत्मा मस्तिष्क में है तो वह प्राणवायु कौन से ऊपर के अंग मे ले जा रहा है? क्या मस्तिष्क वादियों के मत में **मस्तिष्क से ऊपर** भी कोई अंग है? जैसे **घुटना आदि** यह तो यही जाने संभव है इनके शरीर में मस्तिष्क से ऊपर कोई अंग हो।

जिन नडियों का उल्लेख छन्दोग्य में हुआ है उसी का उल्लेख करते हुए कठोपनिषद् कार लिखते हैं—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ १६॥ ६/१६

व्याख्या— मनुष्य के हृदयदेश में एकसौएक नाड़ियां हैं और इन्हीं की शाखायें सारे शरीर में फैली हुई हैं अर्थात् जीव की उत्क्रान्ति हेतुभूत एकसौएक नाड़ी हैं, उनमें से एक "सुषुम्ना"

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

नामक नाड़ी है जो हृदय स्थान से सीधी मूर्द्धदेश को चली गई है इसी के द्वारा गति करने वाला योगी पुरुष अमृतपद को लाभ करता है और जो आत्मतत्व से बहिर्मुख अन्य संसारी जन हैं वह अन्य नाड़ियों द्वारा निष्क्रमण करके नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।

जब आत्मा प्रथम ही मस्तिष्क में विद्यमान है फिर वह हृदयस्थ नाड़ी के द्वारा कौनसी ऊपरी मूर्धा (मस्तिष्क) में जा रहा है? क्या मस्तिष्क वादियों के मतानुसार यहां एक हृदय का अर्थ मस्तिष्क और दूसरा जो मस्तिष्क के लिए ही मूर्धा शब्द आया है उसका अर्थ मस्तिष्क के ऊपर भी एक मस्तिष्क होगा जो शरीर के साथ सुषुम्ना नाड़ी से जुड़ी हुई है? ऐसे अद्भुत मानव की कल्पना तो आजकल नवीन विकासवादी करते हैं। यहां स्पष्ट रूप से हृदय और मस्तिष्क को उपनिषद् कार अलग-अलग लिखते हैं फिर यदि कोई अपनी आंखों को खोलकर ना देखे तो इसमें उसका दोष है।

आगे पुनः अंगुष्ठमात्रः स्थान मे आत्मा का स्थल लिखते हैं—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदाजनानां हृदये सन्निविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥ १७॥

व्याख्या— इस ब्रह्माण्डरूपी पुर अथवा शरीररूपी पुर में निवास करने के कारण परमात्मा का नाम ["पुरुष"] है, और वह पुरुष परमात्मा सब जीवों के हृदय में व्याप्यव्यापकभाव से सदा स्थिर है, मुमुक्षु पुरुषों को उचित है कि वह अपने आत्मा को शनैः-२ शरीर के बन्धन से इस प्रकार पृथक् करके समझें जिस प्रकार कारुक लोग इषीका=शलाकाओं को मुंज से पृथक करते हैं अर्थात् मुंज स्थानीय अपने आपसे भिन्न करके समझे, शरीर अपवित्र और आगमापायी है परन्तु परमात्मा असङ्ग होने से शुद्ध और नित्य होने में अविनाशी है, इसलिये वह शरीर में लिप्त नहीं होता, इसी ज्ञान से मनुष्य बन्धनों से पृथक हो सकता है अन्यथा नहीं।

॥ प्रश्नोपनिषद् और आत्मा ॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतंशतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणिभवन्त्यासु व्यानश्चरति॥ ६॥

[प्रश्नोपनिषद् ३/६]

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

व्याख्या— सब इन्द्रियों का राजा जीवात्मा हृदयदेश में विराजमान है और उसके समीप ही नाभिदेश से (**एकसौएक**) १०१ नाड़ियें निकल कर सारे शरीर में फैली हुई हैं, फिर उनमें से एक-२ की सौं-२ शाखायें निकल कर "**दशहजारएकसौ**" १०१०० होती हैं, उनमें से भी एक-२ की "**बहत्तरहजार**" ७२००० शाखायें निकल कर सारे शरीर में फैली हुई हैं, इन सब नाड़ियों में रुधिर का संचार करता हुआ "ब्यान" वायु विचरता है अर्थात सारे शरीर में व्यापक वायु का नाम ["व्यान"] है, इतनी सूक्ष्म नाड़ियों के अतिसूक्ष्म रन्धों में "व्यान" रहता है, यद्यपि सामान्यरूप से शरीर सब अङ्गप्रत्यङ्गों में व्यान विचरता है तथापि मर्मस्थानों में इसकी विशेषरूप से स्थिति मानी गई है, क्योंकि वहीं से रुधिर बनकर शरीर के सारे अङ्गों और प्रत्यङ्गों में फैलता है।

यहाँ भी स्पष्ट हो रहा है कि हृदय वही है जो नाभी के ऊपर और कंठ से नीचे है।

॥ मुण्डकोपनिषद् और आत्मा ॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि,दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय,तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥ [मुण्डकोपनिषद् २/२/७]

व्याख्या— जो इस चराचर जगत्का ज्ञाता है, जिसका महत्व उसकी रचना से इस संसार में विख्यात है जो प्रत्येक प्राणी के हृदयाकाश में विराजमान है और जो ज्ञानस्वरूप है, उस परमात्मा को जिज्ञासु जन वैदिकज्ञान द्वारा जानते अन्यथा नहीं।

उसी कण्ठ के नीचे वाले हृदय को इस उपनिषद् में दिव्य और ब्रह्मपुर कहा है।

॥ ऐतरेयोपनिषद् और आत्मा ॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्यमुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौनिरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयंनिरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥ [ऐतरेयोपनिषद् १/४]

Kapil Saankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— परमात्मा ने उस विराट् पुरुष को अपने ज्ञानरूप तप से तपाया। जब वह विराट् पुरुष इस प्रकार अभितप्त हुआ, तब उसका मुख अण्डे के समान फट गया। उस मुख से वाणी प्रकट हुई और वाणी से अग्नि उत्पन्न हुई। इसके बाद उसकी दोनों नासिकाएँ भेद को प्राप्त हुईं। नासिकाओं से प्राण प्रकट हुआ और प्राण से वायु की उत्पत्ति हुई। फिर उसकी दोनों आँखें फट गईं। आँखों से चक्षु इन्द्रिय प्रकट हुई और चक्षु इन्द्रिय से आदित्य (सूर्य) उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् उसके दोनों कर्ण भेद को प्राप्त हुए। कर्णों से श्रोत्रेन्द्रिय प्रकट हुई और श्रोत्रेन्द्रिय से दिशाओं की उत्पत्ति हुई। फिर उसकी त्वचा भेद को प्राप्त हुई। त्वचा से लोम उत्पन्न हुए और लोमों से औषधियाँ तथा वनस्पतियाँ प्रकट हुईं। इसके बाद उसका हृदय फट गया। हृदय से मन उत्पन्न हुआ और मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। फिर उसकी नाभि भेद को प्राप्त हुई। नाभि से अपान प्रकट हुआ और अपान से मृत्यु की उत्पत्ति हुई। अन्त में उसका शिश्न (उपस्थेन्द्रिय) भेद को प्राप्त हुआ। शिश्न से वीर्य उत्पन्न हुआ और वीर्य से जल की उत्पत्ति हुई।

इस कण्डिका में प्रथम तो शरीर की कल्पना कर उसके प्रत्येक अवयव से अलग-अलग। पदार्थों की उत्पत्ति कही है उत्पत्ति का क्रम ऊपर से नीचे की ओर है। मुखादि सम्पूर्ण अवयवों की उत्पत्ति कह हृदय से मन की उत्पत्ति कहा है तदन्तर हृदय के पश्चात् नाभि से उत्पत्ति कथन की है। इससे यही सिद्ध होता है कि उपनिषदकारों को हृदय वही अभीष्ट है जो दोनों स्तनों के मध्य विराजमान है।

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधादृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः सङ्कल्पः क्रतुरसुः कामोवश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति॥ २॥ ५/२

व्याख्या— जो यह हृदय है और जो यह मन है, वही सम्यक् चैतन्यभाव वाला आत्मा है। वही सब ओर से भली-भाँति जानने वाला विज्ञान है, वही विविध पदार्थों का ज्ञाता विज्ञान है और वही ज्ञानस्वरूप प्रज्ञान है। वही मेधा के रूप में बुद्धि है, वही दृष्टि के रूप में सबका द्रष्टा है, वही धृति के रूप में धारण करने वाली शक्ति है, वही मति के रूप में मनन करने वाली शक्ति है और वही मनीषा के रूप में समस्त मनुष्यों के मनों को उनके-अपने कर्मों के अनुसार प्रेरित करने वाली शक्ति है। वही जूति के रूप में समस्त संघातों को एकत्र करने वाली शक्ति है, वही स्मृति के रूप में अनुभवजन्य शक्ति है, वही संकल्प के रूप में शुभ संकल्प करने वाली शक्ति है, वही क्रतु के रूप में यज्ञरूप शक्ति है, वही असु के रूप

Kapil Sankhya Yoga Anusandhan Kendra

में प्राणरूप शक्ति है, वही काम के रूप में समस्त भुवनों की रचना की कामनारूप शक्ति है और वही वश के रूप में सबको अपने अधीन करने वाली शक्ति है। इस प्रकार ये सब नाम ही वास्तव में ज्ञानस्वरूप परमात्मा के नाम हैं।

॥ तैत्तिरीयोपनिषद् और आत्मा ॥

स य एषोन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः, अमृतोहिरण्मयः अन्तरेण तालुके, य एष स्तनइवावलम्बते, सेन्द्रयोनिः, यत्रासौ केशान्तो विवर्त्तते, व्यपोह्य शीर्षकपाले, भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति भुव इति वायौ ॥ १५ ॥

[शिक्षावल्ली ६/१५]

व्याख्या— हृदय के भीतर जो आकाश है, उसी में वह यह मनोमय, ज्ञानस्वरूप, हिरण्मय अर्थात् प्रकाशस्वरूप, नाशरहित अमृत पुरुष स्थित है। तालु के मध्य, कण्ठ में जो "काक" नामक भाग है, वहाँ स्तन के समान मांस का एक भाग लटका हुआ है। उसके समीप ही सुषुम्णा नाड़ी का मार्ग है। जिस स्थान पर केशों का अवसान होता है, वहाँ उस नाड़ी को छेदन करके, विभाजन करते हुए, वह शीर्षकपाल अर्थात् शिर के कपाल में निकलती हुई स्थित है। वही नाड़ी ब्रह्मज्ञानी जीवात्मा की मुक्ति का द्वार है, जिसे इन्द्रयोनि कहा गया है। "भूः" इस व्याहृति द्वारा उपासना करने वाला उपासक परमात्मा के ज्ञानगुण को प्राप्त करके अग्नि में प्रतिष्ठित होता है, अर्थात् मुक्त पुरुषों में स्थान प्राप्त करता है। और "भुवः" इस व्याहृति द्वारा उपासना करने वाला उपासक परमात्मा के गतिरूप गुण को प्राप्त करता है।

तात्पर्य यह है कि हृदय के भीतर स्थित सुषुम्णा नामक नाड़ी कण्ठ प्रदेश से होकर ऊपर की ओर गमन करती हुई कपाल, अर्थात् मस्तिष्क तक पहुँचती है। यह नाड़ी साधारण प्राणमार्ग नहीं है, अपितु आत्मा के उत्क्रमण का विशेष पथ है। हृदय में स्थित आत्मा जब देहत्याग के समय शरीर के स्थूल और सूक्ष्म बन्धनों से मुक्त होती है, तब वह अन्य नाड़ियों से न जाकर इसी सुषुम्णा नामक नाड़ी के द्वारा ऊपर की ओर प्रस्थान करती है। इसी मार्ग से होकर गमन करने पर वह आत्मा मुक्ति को प्राप्त होती है; अन्य मार्गों से गमन करने वाली आत्मा संसारबन्धन में ही प्रविष्ट होती है।

यहाँ उपनिषद्कार का अभिप्राय अत्यन्त सूक्ष्म है। उन्होंने स्पष्ट रूप से हृदय और कपाल (मस्तिष्क) को पृथक्-पृथक् स्थान बतलाया है। यदि आत्मा का निवास मस्तिष्क में माना

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

जाता, तो हृदय से ऊपर जाने का यह वर्णन निरर्थक होता। किन्तु उपनिषद् हृदयस्थ आकाश को ही आत्मा का वास्तविक निवासस्थान घोषित करता है। वही हृदयाकाश आत्मा का आधार है, वहीं से उसकी चेतना समस्त शरीर में प्रसारित होती है। मस्तिष्क को उपनिषद् ने आत्मा का निवास नहीं, अपितु उत्क्रमण का द्वार बताया है। सुषुम्णा नाड़ी हृदय से आरम्भ होकर कण्ठप्रदेश को भेदती हुई कपाल में जाकर खुलती है, और वही स्थान ब्रह्मप्राप्ति का द्वार कहा गया है। इस प्रकार हृदय आत्मा का अधिष्ठान है और कपाल मुक्ति का निर्गमन-द्वार है यह भेद उपनिषद्कार ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से स्थापित किया है। अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा न तो मस्तिष्क में स्थित है और न ही अन्य कहीं, बल्कि हृदयस्थ सूक्ष्म आकाश में निवास करती है। देहान्त के समय वही आत्मा, यदि ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न हो, तो सुषुम्णा नाड़ी के मार्ग से ऊपर गमन कर परमगति को प्राप्त होती है।

॥ श्वेताश्वतरोपनिषत् और आत्मा ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥ ३/१३

व्याख्या— जो अन्तरात्मा है, वही पुरुष प्रत्येक मनुष्य के हृदय के भीतर सदा निवास करता हुआ स्थित है। उसे अंगुष्ठमात्र कहने का तात्पर्य ऊपर अन्य उपनिषद् के प्रकरण में बता दिया गया है वह आत्मा किसी बाह्य साधन से नहीं, बल्कि हृदय की शुद्ध बुद्धि (मनीषा) और संयमित, परिष्कृत मन के द्वारा ही जाना जाता है। अर्थात् जब मन विषयों से हटकर अन्तर्मुख होता है और बुद्धि विवेकपूर्वक आत्मतत्त्व में स्थित होती है, तब वही आत्मा स्पष्ट रूप से अनुभूत होती है। जो पुरुष इस प्रकार हृदय के भीतर स्थित आत्मा को जान लेते हैं, वे लोग अमृतस्वरूप हो जाते हैं, अर्थात् मृत्यु, जन्म और परिवर्तन के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७ ॥ ४/१७

व्याख्या— वही देव जो समस्त जगत् का कर्ता, नियन्ता और संयोजक है विश्वकर्मा कहलाता है। वही महात्मा परमात्मा है जो सभी प्राणियों के हृदय के भीतर सदा निवास करता हुआ स्थित है। अर्थात् समस्त सृष्टि का कारण होते हुए भी वह प्रत्येक जीव के अन्तरात्मा-रूप से अत्यन्त समीप है। यह आत्मतत्त्व न तो इन्द्रियों की पकड़ में आता है,

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

न ही केवल शास्त्रीय शब्दज्ञान से उपलब्ध होता है। उसे हृदय की परिष्कृत बुद्धि (मनीषा) और संयमित, एकाग्र मन के द्वारा ही जाना जाता है। जब मन विषयों से हटकर अन्तर्मुख होता है और बुद्धि विवेकपूर्वक स्थिर हो जाती है, तब वही परमात्मा स्पष्ट अनुभूति का विषय बनता है। जो लोग इस प्रकार हृदयस्थ परमात्मा को यथार्थ रूप से जान लेते हैं केवल मान लेने से नहीं, बल्कि साक्षात् अनुभूति द्वारा वे अमृत हो जाते हैं। अर्थात् वे जन्म–मृत्यु, भय और नश्वरता से परे होकर मोक्षस्वरूप अवस्था को प्राप्त करते हैं।

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २०॥ ४/२०

व्याख्या— यह आत्मतत्त्व किसी भी दृश्य रूप में कहीं खड़ा हुआ नहीं मिलता। उसका कोई ऐसा आकार नहीं है जो आँखों के सामने आकर दिख सके। इसलिए कोई भी व्यक्ति उसे नेत्रों से नहीं देख सकता। वह इन्द्रियों का विषय नहीं है, क्योंकि इन्द्रियाँ केवल रूप, रंग और आकार को ही ग्रहण कर सकती हैं, जबकि आत्मा इन सबसे परे है। किन्तु वही आत्मा हृदय के भीतर स्थित है हृदय में ही स्थित होकर वही हृदय के द्वारा जाना जाता है। जब मन बाह्य विषयों से हटकर अन्तर्मुख होता है और बुद्धि सूक्ष्म विवेक से सम्पन्न होकर हृदयस्थ चेतना में स्थिर होती है, तब मन के द्वारा उसी आत्मा का बोध होता है। जो लोग इस प्रकार हृदय में स्थित आत्मा को यथार्थ रूप से जान लेते हैं, वे लोग अमृत हो जाते हैं, अर्थात् वे जन्म–मृत्यु के चक्र, भय और नश्वरता से मुक्त होकर अविनाशी आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः॥ ८॥ ५/८

व्याख्या— वह आत्मा अङ्गुष्ठमात्र है, वह रवि के तुल्य रूपवान् है, अर्थात् स्वयं प्रकाशित है, उसे किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं, जैसे सूर्य स्वयं अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है। वही आत्मा संकल्प और अहंकार से संयुक्त प्रतीत होती है। इसका अभिप्राय यह है कि देहधारी अवस्था में वही चेतन आत्मा जब बुद्धि और मन के उपाधि-संयोग से जुड़ती है, तब वही संकल्पकर्ता, कर्तृत्व-अभिमानी 'मैं' के रूप में अनुभव होती है। यह आत्मा बुद्धि के गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप से प्रकट होती हुई सी प्रतीत होती है और साथ ही अपने निज आत्मगुण चेतनता से सबको प्रकाशित करती है। इसलिए कहीं वह कर्ता-भोक्ता के रूप में जानी जाती है, तो कहीं साक्षी मात्र के रूप में। यद्यपि वह आराग्रमात्र

Kapil Sankhya Log Anusandhan Kendra

अर्थात् सुई की नोक के समान अत्यन्त सूक्ष्म कही गई है, फिर भी वह अपरा भी दृष्ट होती है। अर्थात् वह प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय बनती है। जो साधक उपाधियों से पृथक् होकर उसे जानता है, उसके लिए वह आत्मा न तो दूर है, न अदृश्य वह स्वयं का स्वयं में साक्षात्कार है। इस उपनिषद मे भी आत्मा का स्थान उसी हृदय देश को कहा है जहां पर अन्य उपनिषदें कहती हैं।

॥ शांखायन आरण्यक और आत्मा ॥

होवाचाऽजातशत्रुः— यत्रैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट, यत्रैतद् अभूत्, यत एतद् आगाद् इति। हिता नाम पुरुषस्य नाड्यो हृदयात्पुरीतम् अभिप्रतन्वन्ति तद् यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावद् अरव्यः। पिङ्गलस्याऽणिम्न्यस् तिष्ठन्ति शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्य च । तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति॥ १६ ॥ ६/१९

व्याख्या— राजा अजातशत्रु बालाकि से कहते हैं "हे बालाके! यह पुरुष जब सोया हुआ था तब यह कहाँ स्थित था? यह अवस्था क्या थी? और यह यहाँ से फिर कहाँ से लौट आया?" इसके उत्तर में वे बताते हैं कि मनुष्य के हृदय से निकलकर असंख्य नाड़ियाँ फैलती हैं। ये नाड़ियाँ हृदय से पूरे शरीर में उसी प्रकार फैल जाती हैं जैसे एक केश को हजार भागों में चीर दिया जाए अत्यन्त सूक्ष्म, गिनती से परे। इन नाड़ियों के भीतर सूक्ष्म जीवनी-शक्ति प्रवाहित रहती है, जो श्वेत, कृष्ण, पीत और लोहित इन विभिन्न रूपों में प्रकट होती है। जब मनुष्य गहरी निद्रा में होता है, जब वह कोई स्वप्न नहीं देखता, तब वही चेतन पुरुष इन नाड़ियों में स्थित हो जाता है। उस समय इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं, मन किसी विषय का ग्रहण नहीं करता, और चेतना बाह्य जगत् से हटकर अपने ही अन्तःस्थ आधार में विलीन-सी हो जाती है। न वह देखता है, न सुनता है, न किसी भेद को अनुभव करता है केवल अस्तित्व मात्र शेष रहता है। यही वह अवस्था है जिसमें जीव अपने कर्म, सुख-दुःख और कल्पनाओं से क्षणभर के लिए मुक्त होकर अपने मूल आश्रय में विश्राम करता है। यही कारण है कि गहरी निद्रा के बाद मनुष्य को शान्ति और ताजगी का अनुभव होता है क्योंकि उस समय वह पुरुष हृदयस्थ नाड़ियों में अवस्थित होकर अपने स्वभाव में प्रतिष्ठित होता है।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

यथामूनि त्रीणि ज्योतींष्येवम् इमानि पुरुषे त्रीणि ज्योतींषि। यथासौ दिव्यादित्य एवम् इदं शिरसि चक्षुः यथासावन्तरिक्षे विद्युद् एवम् इदम् आत्मनि हृदयम्। ७/४

व्याख्या— इस कण्डिका में शरीर की तीन ज्योतियों का वर्णन है जिसमें एक है चक्षु, दूसरा आत्मा और तीसरा रेत। चक्षु के विषय में आरण्यक कार कहते हैं कि यह शिर में है। जबकि आत्मा के विषय में कहते हैं कि (इदम् आत्मनि हृदयम्) यह आत्मा जो हृदय में है। शिर और हृदय का अलग-अलग वर्णन भी यह बताता है कि आरण्यककार को मस्तिष्क और हृदय इन दोनों शब्दों से अलग-अलग शरीर के अवयव अभिप्रेत हैं।

आगे आरण्यक में बड़ी ही स्पष्टता से आत्मा को हृदय में स्थित कहा है वो सब कण्डिकाएं मैं यहां दिये देता हूं।

वाचि मेऽग्निः प्रतिष्ठितः, वाग् हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

प्राणे मे वायुः प्रतिष्ठितः, प्राणो हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

अपाने मे वैद्युत प्रतिष्ठितः, अपानो हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

उदाने मे पर्जन्यः प्रतिष्ठितः, उदानो हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

चक्षुषि म आदित्यः प्रतिष्ठितः, चक्षुर् हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

मनसि मे चन्द्रमाः प्रतिष्ठितः, मनो हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

श्रोत्रे मे दिशः प्रतिष्ठितः, श्रोत्रं हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

शरीरे मे पृथ्विवी प्रतिष्ठिताः, शरीरं हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

रेतसि में आपः प्रतिष्ठिताः, रेतो हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

KapilSankhyaYog Anusandhan Kendra

बले म इन्द्रः प्रतिष्ठितः, बलं हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

मन्यौ म इशानः प्रतिष्ठितः, मन्युर् हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

मूर्धनि म आकाशः प्रतिष्ठितः, मूर्धा हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥

आत्मनि मे ब्रह्म प्रतिष्ठितम्, आत्मा हृदये, हृदयम् आत्मनि। तत् सत्यं देवानाम् माऽहम् अकामो मरिष्यामि। अन्नवान् अन्नादो भूयासं स्वाहा॥ अथैतत् स्थालीपाकशेषम् आत्मनि समवनिनीय जुहोति॥ ६॥ शांखायन आरण्यक ११/६

इस सम्पूर्ण प्रकरण में आत्मा को हृदय मे प्रतिष्ठित कहा है विशेष व्याख्या कि आवश्यकता नहीं।

॥ मैत्र्युपनिषद् और आत्मा ॥

स एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाऽऽश्रितोऽन्नमत्ति॥ १॥ ६/१

व्याख्या— यह वही आत्मतत्त्व है जो मनुष्य के भीतर, हृदयरूपी (**पुष्कर**) कमल के अन्तरभाग में आश्रित होकर स्थित है। वही चेतन सत्ता अन्न को ग्रहण करती है अर्थात् समस्त अनुभूतियों, प्राणशक्तियों और जीवन-रस का उपभोग करती है।

यश्चैषोऽग्नौ यश्चायं हृदये यश्चासावादित्ये स एष एका इत्येकस्य हैकत्वमिति य एवं वेद॥ १७॥ ६/१७

व्याख्या— जो यह अग्नि में प्रकट होता है, जो यही हृदय के भीतर आत्मा स्थित है, और जो वही सूर्य में आदित्य के रूप में प्रकाशित है वह वास्तव में भिन्न-भिन्न नहीं है। ये तीनों एक ही तत्त्व की अभिव्यक्तियाँ हैं।

थान्यत्राप्युक्तमूर्ध्वगा नाडी सुषुम्नाख्या प्राणसञ्चारिणी ताल्वन्तर्विच्छिन्ना तया प्राणोङ्कारमनोयुक्तयोर्ध्वमुत्क्रमेत् ताल्वध्यग्रं परिवर्त्य चेन्द्रियाण्यसंयोज्य महिमा महिमानं निरीक्षेत ततो निरात्मकत्वमेति निरात्मकत्वान्नसुखदुःखभाग्भवति केवलत्वं लभता इत्येवं ह्याह। परः पूर्वं प्रतिष्ठाप्य निगृहीतानिलं ततः। तीर्त्वा पारमपारेण पश्चाद्युञ्जीत मूर्धनि॥ २१॥ ६/२१

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

व्याख्या— कहा गया है कि एक ऊर्ध्वगामी नाड़ी है, जिसे सुषुम्ना कहा जाता है। यही प्राण के संचार का मुख्य मार्ग है। यह नाड़ी तालु-प्रदेश के भीतर जाकर सूक्ष्म रूप से स्थित है। जब साधक प्राण, ओंकार और मन इन तीनों को एक साथ संयोजित करता है, तब प्राण उसी सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊपर की ओर उत्क्रमण करता है। उस समय साधक तालु के अग्रभाग को भीतर की ओर मोड़कर, इन्द्रियों को उनके विषयों से असंयोजित करता है अर्थात् बाह्य जगत् से हटाकर उन्हें भीतर समेट लेता है। तब वह अपने ही भीतर स्थित महिमा को, परम महिमा को, साक्षीभाव से देखने लगता है। इस अवस्था में पहुँचकर साधक निरात्मकत्व को प्राप्त होता है। इस अनुभव के बाद वह सुख और दुःख का भाजन नहीं होता। वह कैवल्य अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार से यह बात कही गई है— पहले प्राण को नीचे स्थिर करके, वायु को संयमित किया जाए। उसके बाद उस अपार के भी पार को पार करके, अंततः चित्त को मूर्धा-प्रदेश में युक्त किया जाए। और उस मार्ग के द्वारा वह मुक्ति को प्राप्त कर लेगा।

अथान्यत्राप्युक्तं ब्रह्मणो वावैतत्तेजः परस्यामृतस्य। अशरीरस्यौष्ण्यमस्यैतद्धृतम्। अथाऽऽविः सन्नभसि निहितं वैतदेकाग्रेणैवमन्तर्हृदयाकाशं विनुदन्ति यत्तस्य ज्योतिरिव सम्पद्यतीत्यतस्तद्भावमचिरेणैति मृद्वत्संस्थमयस्पिण्डं यथाऽग्न्ययस्कारादयो नाभिभवन्ति। प्रणश्यति चित्तं तथाऽऽश्रयेण सहैवमित्येवं ह्याह। हृद्याकाशमयं कोशमानन्दं परमालयम्। स्वं योगश्च ततोऽस्माकं तेजश्चैवाग्निसूर्ययोः॥ २७॥

६/२७

व्याख्या— अन्य ग्रन्थों में भी यही तत्त्व स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य के शरीर में जो ऊष्मा या जीवन-ताप अनुभव होता है, वह किसी भौतिक कारण से उत्पन्न नहीं है, बल्कि उसी अमृतस्वरूप, अशरीरी परब्रह्म का तेज है। शरीर तो केवल उस तेज का घृत-सदृश आश्रय है, जिसमें वह प्रकट होकर कार्य करता है। यह दिव्य तेज बाहर से नहीं आता, बल्कि हृदय के भीतर स्थित आकाश में निहित रहता है। जब साधक एकाग्रता का अभ्यास करता है और चित्त को बार-बार उसी हृदयाकाश की ओर ले जाता है, तब वही तेज वहाँ प्रकाश के समान प्रकट होने लगता है। इस ज्योतिर्मय अनुभूति के साथ साधक शीघ्र ही तादात्म्य को प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह स्वयं उसी प्रकाशभाव में स्थित हो जाता है।

Kapil Saankhya Yog Anusandhan Kendra

जिस प्रकार भूमि में गड़ा हुआ लोहे का टुकड़ा धीरे-धीरे मिट्टी में मिलकर अपनी अलग पहचान खो देता है और फिर वह लुहार के उपयोग का नहीं रह जाता, उसी प्रकार इस ब्रह्मतेज के आश्रय में आने पर साधक के चित्त में स्थित वासनाएँ और संस्कार पूरी तरह गलकर नष्ट हो जाते हैं। चित्त अपनी सीमित, विक्षिप्त अवस्था को छोड़ देता है और शान्त हो जाता है। इसी भाव को सूत्ररूप में कहा गया है कि हृदयाकाश में स्थित यह कोश ही परम आनन्द का धाम है। वही हमारा अपना वास्तविक आश्रय है, वही योग-साधना का परम लक्ष्य है, और वही तेज अग्नि तथा सूर्य के प्रकाश के समान उज्ज्वल होकर भीतर-बाहर सर्वत्र एकरस रूप से विद्यमान है।

एतदुक्त्वाऽन्तर्हृदयः शाकायन्यस्तस्मै नमस्कृत्वा यथावदु- पचारी कृतकृत्यो मरुदुत्तरायणं गतो न ह्यत्रोद्वर्त्मना गतिरेषोऽत्र ब्रह्मपथः सौरं द्वारं भित्त्वोर्श्वेन विनिर्गता इत्यत्रोदाहरन्ति । अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि। सितासिताः कगुनीलाः कपिला मृदुलोहिताः। ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्। ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम्। यदस्यान्यद्रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम्। तेन देवनिकायानां स्वधामानि प्रपद्यते। ये नैकरूपाश्चाधस्ताद्रश्मयोऽस्य मृदुप्रभाः। इह कर्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः। तस्मात्सर्गस्वर्गापवर्गहेतुर्भगवानसावादित्य इति॥ ३०॥

६/३०

व्याख्या— जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ पूर्णतः स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि चंचल होकर इधर-उधर की गतिविधियों में प्रवृत्त नहीं रहती, तब चेतना की जो अवस्था प्रकट होती है, उसे ही अनुभवी महापुरुषों ने परमगति कहा है। उस स्थिति में न विषयों का आकर्षण रहता है, न विचारों की उथल-पुथल मन, इन्द्रियाँ और बुद्धि एक ही केन्द्र में शान्त होकर स्थित हो जाते हैं। यह उपदेश देकर शाकायन्य ऋषि अपने अन्तःहृदय में स्थित ब्रह्मभाव में लीन हो गए। मरुत् नामक राजा बृहद्रथ ने उन्हें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया, शास्त्रविहित मर्यादा के अनुसार उनका आदर-सत्कार किया और अपने भीतर कृतकृत्य होने का अनुभव करते हुए उत्तरायण मार्ग की ओर प्रस्थान किया। क्योंकि इस ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अन्य किसी मार्ग से जाना सम्भव नहीं होता यही ब्रह्म का पथ है। राजा सूर्य से सम्बन्धित द्वार को भेदकर ऊर्ध्व दिशा में अग्रसर हो गए।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

इस प्रसंग में जानकार लोग एक श्लोक का उल्लेख करते हैं—

हृदय में दीपक के समान जो आत्मा प्रकाशमान है, वही चेतना का केन्द्र है। नाड़ियाँ उसकी अनन्त किरणों के समान हैं, जो श्वेत, श्याम, भूरी, नीली, कपिल तथा कुछ लालिमा लिए हुए विभिन्न वर्णों में प्रवाहित होती हैं। इन सब में से एक प्रधान नाड़ी सुषुम्ना ऊपर की ओर जाती है और सूर्य-मण्डल को भेदकर साधक को ऊपर ले जाती है। उसी मार्ग से साधक परमगति को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त जो अन्य अनेक नाड़ियाँ ऊपर की ओर स्थित हैं, उनके द्वारा साधक विभिन्न देवसमूहों के स्व-स्व धामों में पहुँचता है। परन्तु जो नाड़ियाँ नीचे की ओर जाती हैं, वे हल्के प्रकाश वाली और अनेक रूपों से युक्त होती हैं। उन्हीं के सहारे जीव अभी मुक्त न होकर अपने कर्मों के फलों का भोग करने के लिए पुनः इस संसार में प्रवेश करता है। इस प्रकार यह बताया गया है कि हृदयस्थ चेतना की किरणों के अनुसार ही जीव की गति निश्चित होती है कहीं वह मोक्ष की ओर जाती है, कहीं देवगति की ओर, और कहीं पुनः संसार के कर्म-चक्र की ओर।

शरीरप्रादेशाङ्गुष्ठमात्रमणोरप्यणुं ध्यात्वाऽतः परमतां गच्छत्यत्र हि सर्वे कामाः समाहिता इत्यत्रोदाहरन्ति। अङ्गुष्ठप्रादेशशरीरमात्रं प्रदीपप्रतापवद्विस्त्रिधा हि। तद्ब्रह्माभिष्ट्रयमानं महो देवो भुवनान्याविवेश। ओम् नमो ब्रह्मणे नमः॥ ३८॥

व्याख्या— शरीर के भीतर, हृदय के केन्द्र में स्थित जिस आत्मतत्त्व का परिमाण केवल अँगूठे के समान बताया गया है, जो अत्यन्त सूक्ष्म है और अणु से भी सूक्ष्म कहा गया है उसी का ध्यान करने से साधक परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। उस अवस्था में उसकी सभी कामनाएँ अपने आप समाप्त हो जाती हैं, क्योंकि वह उस पूर्णता में प्रतिष्ठित हो जाता है। इसी भाव को स्पष्ट करने के लिए ज्ञानीजन एक वचन का स्मरण कराते हैं— हृदय के भीतर स्थित यह आत्मा अँगूठे के आकार के समान प्रतीत होती है और दीपशिखा की तरह निरन्तर प्रकाशमान रहती है। वह दो या तीन प्रकार से प्रकट होती हुई जागृति, चेतना और आनन्द के रूप में अन्तर में प्रकाशित रहती है। उसी आत्मा कि अंतरात्मा जो ब्रह्म है उसी की स्तुति की जाती है। वही अखण्ड चैतन्यस्वरूप महादेव समस्त स्थावर और जङ्गम जगत् में व्याप्त होकर सबमें अनुप्रविष्ट है। इसलिए उसी का ध्यान करना योग्य है। ऐसे उस ब्रह्म को बार-बार नमस्कार है।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

एष हि खल्वात्माऽन्तर्हृदयेऽणीयानिद्धोऽग्निरिवविश्वरूपोऽस्यैवान्नमिदं सर्वमस्मिन्नोता इमाः प्रजाः। ७/७

व्याख्या— हृदय में विद्यमान यह आत्मा अतिसूक्ष्म, अग्नि के सदृश प्रदीप्त और सर्वाकारसम्पन्न है।

इत्यादि उपनिषद् वचनों में हृदयाकाश में ही आत्मा की स्थिति कही है। अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

॥ उत्तरमीमांसा(ब्रह्मसूत्र)और आत्मा ॥

अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमात् हृदिहि ॥ २४ ॥ [ब्रह्मसूत्र २/३/२४]

व्याख्या— (**अवस्थितिवैशेष्यात्**) चन्दनव्याप्ति की विशेषता पाये जाने से उक्त दृष्टान्त असङ्गत है (**चेत्**) यदि (**इति**) ऐसा कहा जाय तो (**न**) ठीक नहीं, क्योंकि (**हि**) निश्चयकरके आत्मा की (**हृदि**) हृदयदेश में (**अभ्युपगमात्**) स्थिति पाई जाती है।

यहाँ भी सूत्रकार हृदयदेश मे ही आत्मा का होना स्वीकार करते हैं।

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वञ्चानुपोष्य ॥ ७ ॥ [ब्रह्मसूत्र ४/२/७]

व्याख्या— (**च**) निश्चयकरके (**आमृत्युपक्रमाद**) नाडीप्रवेश से पूर्व विद्वान तथा अविद्वान की उत्क्रान्ति (**समाना**) समान है (**च**) और (**अनुपोष्य**) सूक्ष्मशरीर (**तुरीय**) का त्याग न करके विद्वान को (**अमृतत्वं**) अमृतभाव की प्राप्ति होती है।

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृति योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥ [ब्रह्मसूत्र ४/२/१७]

व्याख्या— (**विद्यासामर्थ्यात्**) ब्रह्मविद्या के सामर्थ्य (**च**) और (**तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्**) ब्रह्मप्राप्तिके स्मृतियोग से (**तत्प्रकाशितद्वारः**) जिसके लिये मोक्षमार्ग का द्वार प्रकाशित होगया है और (**हार्दानुगृहीतः**) जिसपर परमात्मा की पूर्णतया कृपा है वह (**तदोकोग्रज्वलनं**) शुद्ध हृदयरूप आयतन वाला उपासक पुरुष (**वाताधिकया**) सुषुम्णा नाडीद्वारा उत्क्रमण करता है।

ब्रह्मसूत्रकार ने भी यहाँ नडियों से विद्वान और अविद्वान की उत्क्रान्ति का वर्णन किया है जैसा कि ऊपर उपनिषदों मे आ चुका है।

॥ पातञ्जलसांख्यप्रवचन सूत्र और आत्मा ॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

विशोका वा ज्योतिष्मती॥ ३६॥ १/३६

व्यासभाष्य— प्रवृत्तिरुत्पत्रा मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते। [ज्योतिष्मती] हृदयपुण्डेरीके धारयतो या बुद्धिसंवित्, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः "सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते"। तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम् "तमगुणमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते" इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते। यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥ ३६॥

हिन्दी— पूर्व सूत्र से 'प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी' इन पदों की अनुवृत्तिग्रा रही है। '**हृदयपुण्डरीक**'=हृदय कमल में **धारणा**=मन को स्थिर करने वाले योगी को जो **बुद्धिसंवित्**=बुद्धि की प्रतीति होती है, वह बुद्धिवस्तु प्रकाशमान आकाश के समान (निर्मल) होती है, वहाँ चित्त की **स्थिति**=स्थिरता, तथा **वैशारद्य**=निर्मलता के कारण **प्रवृत्ति**=सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मरिण की भांति प्रभारूपाकारवाली (**ज्योतिष्मती**) बनती है। और **अस्मिता**=अपनी ग्रात्मानुभूति में समाहित किया चित्त तरङ्ग-रहित सागर के समान **शान्त**=रजोगुण व तमोगुण के प्रभाव से शून्य, **अनन्त**=बहुत बड़ा प्रतीत होने वाला और **अस्मितामात्रम्**=आत्मानुभूतिमात्र करने वाला हो जाता है। जिस विषय में यह कहा जाता है उस अणुरूप=सूक्ष्मरूप अपने आत्माको अनुभव करके **अस्मीति**='मैं हूँ' इस प्रकार (**प्रात्मानुभूति**) का सम्यक् **ज्ञान**=साक्षात्कार करता है। यह दो प्रकार की विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है एक विषयवती (**बुद्धिसंविद्रूपा**) और दूसरी अस्मिता मात्रा कही जाती है। जिस प्रवृत्ति से योगी-पुरुषों का चित्त स्थिरता को प्राप्त करता है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ १॥ ३/१

व्यासभाष्य— नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्र, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु वाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा॥ १॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

हिन्दी— चित्त को नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र), नसिका के अग्रभाग में, जिह्वा के अग्रभाग में, इत्यादि शारीरिक प्रदेशों में अथवा बाह्यविषय में वृत्तिमात्र से **बान्धना**=लगाना 'धारणा' कहलाती है।

हृदये चित्तसंवित्॥ ३४॥ ३/३४

व्यासभाष्य— [हृदये] यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमाच्चित्तसंवित् ॥ ३४॥

हिन्दी— [हृदये] इस शरीर में जो यह ब्रह्मपुर=ब्रह्म नगर में गुप्त कमल-गृह है, उसमें **विज्ञान**=चित्त की स्मरणात्मक वृत्ति है, उसमें संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

भगवान् व्यासदेव व्यासभाष्य में प्रतिपादित इन सूत्रों का समग्र भाव यह स्पष्ट कर देता है कि योगशास्त्र में चित्त की प्रवृत्ति, उसकी स्थिरता और आत्मानुभूति का केन्द्र हृदयपुण्डरीक ही है, न कि मस्तिष्क। जब योगी हृदयकमल में चित्त को धारित करता है, तब वहाँ बुद्धि की जो प्रतीति होती है वह सत्त्वप्रधान, निर्मल और आकाश के समान प्रकाशमान होती है। उसी निर्मल बुद्धिसत्त्व से उत्पन्न प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, ग्रह और मणि के प्रकाश के समान ज्योतिष्मती हो जाती है। यह प्रवृत्ति शोक-रहित होती है, क्योंकि इसमें रजस् और तमस् का लेश भी शेष नहीं रहता। ऐसी अवस्था में चित्त तरङ्गरहित महासागर के समान शान्त, असीम और केवल अस्मिता-मात्र का अनुभव करने वाला बन जाता है, जहाँ योगी सूक्ष्म आत्मतत्त्व का साक्षात् 'अस्मि मैं हूँ' इस रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान करता है। इसी क्रम में जब व्यासदेव धारणा का स्वरूप बताते हैं, तब वे नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक और मूर्धा को स्पष्ट रूप से अलग-अलग देश के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। इससे यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि हृदय और मस्तिष्क एक नहीं हैं। यदि हृदय का अर्थ मस्तिष्क होता, तो व्यासभाष्य में इन दोनों का पृथक् उल्लेख निरर्थक होता। परन्तु शास्त्रकार ऐसा नहीं करते, वे जहाँ हृदयपुण्डरीक कहते हैं, वहाँ चेतना, बुद्धिसंवित् और आत्मानुभूति का अधिष्ठान बताते हैं, और जहाँ मूर्धा कहते हैं, वहाँ ब्रह्मरन्ध्र आदि ऊर्ध्वदेश का संकेत करते हैं।

अतः हृदयपुण्डरीक चेतना का वास्तविक केन्द्र है। उपनिषदों में इसी हृदय-कमल का वर्णन आत्मा के निवास-स्थान के रूप में हुआ है, मस्तिष्क को हृदय कहना न तो योगसूत्र से सिद्ध होता है और न ही व्यासभाष्य से। यह धारणा आधुनिक कल्पनाओं या भिन्न शास्त्रपरम्पराओं का आरोप है। योगशास्त्र की दृष्टि में चित्त की ज्योतिष्मती, विशोका प्रवृत्ति और आत्मसाक्षात्कार का मूलाधार हृदयपुण्डरीक ही है यही इस सम्पूर्ण प्रकरण का

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

निर्विवाद निष्कर्ष है। पुण्डरीक हृदय को क्यों कहा जाता है यह मैं उपनिषदों के प्रसंग में वर्णित कर आया हूं।

॥ सांख्याचार्य भगवान हारीत-देवल-शंख-सनत्कुमार और आत्मा ॥

मनसो धारणम् अन्तःशरीरे हृदि ललाटे। परं ब्रह्मात्मज्योतिरादित्यमहोनभस्सु जलभाजनवत् मनसस्त्वेकधारणात् धारणा ॥

व्याख्या— मन का धारण करना अर्थात् चंचल प्रवृत्तियों से हटाकर उसे एक ही स्थान पर स्थिर करना धारणा कहलाता है। यह धारणा अन्तःशरीर में, विशेषतः हृदय अथवा ललाट (भ्रूमध्य) में की जाती है।

हृदिस्थतिष्ठते ॥

व्याख्या— वह परम तत्त्व हृदय में स्थित है।

प्राणापानव्यानोदानसमानानां सकृदुद्गमनं मूर्धानमाहृत्य निवृत्तिश्चोद्वातः ॥

व्याख्या— जब प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँचों वायु एक ही क्षण में अपनी-अपनी प्रवृत्तियों को संकुचित कर ऊपर की ओर गति करते हुए मूर्धा (शीर्ष) की ओर आकृष्ट हो जाते हैं, और वहाँ पहुँचकर उनकी चेष्टाएँ एक साथ निवृत्त हो जाती हैं, तब उस विशेष समन्वित उर्ध्वगामी प्रवाह को उद्वात कहा जाता है।

श्रोत्रहृदयनाभिगतः सर्वकर्मा स्यन्दनावबोधनानां समायतत इति समानः ॥

व्याख्या— जो वायु श्रोत्र, हृदय और नाभि में स्थित होकर समस्त प्राणक्रियाओं का समन्वय करती है, पाचन को संतुलित रखती है, रस का स्रवण कराती है और ज्ञान व अनुभूति की प्रक्रियाओं को एकसूत्र में बाँधती है, वही समान वायु है।

हृत्स्थस्य ध्यानयोगेन देवदेवस्य दर्शनम्। ध्यानं प्रोक्तं प्रवक्ष्यामि ध्यानयोगमतः शुभम् ॥

व्याख्या— हृदय में स्थित उस देवों के भी देव अर्थात् परमात्मस्वरूप चेतना का साक्षात् दर्शन ध्यानयोग के द्वारा ही होता है। जब साधक बाह्य विषयों से मन को समेटकर हृदयस्थ चेतना में एकाग्र करता है, तब वही अन्तःस्थित देवदेव प्रकट होता है।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणः प्रतिष्ठितः। हृदि ज्योतींषि सूर्यश्च हृदि सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

व्याख्या— हृदय ही समस्त देवताओं का निवासस्थान है। वही हृदय प्राण का आधार है, जिससे जीवन की समस्त चेष्टाएँ संचालित होती हैं। उसी हृदय में समस्त ज्योतियाँ प्रतिष्ठित हैं और सूर्य भी उसी का प्रतीक है अर्थात् जो प्रकाश बाहर सूर्यरूप में दिखता है, वही अन्तःकरण में चेतनाज्योति के रूप में विद्यमान है। वास्तव में यह सम्पूर्ण जगत्, जो बाहर विविध रूपों में प्रकट होता है, अपने सूक्ष्म कारण सहित हृदय में ही प्रतिष्ठित है। इस प्रकार हृदय को ब्रह्मपुर, देवायतन और आत्मा का मूल केन्द्र कहा गया है।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं तूत्तरारणिम्। ध्याननिर्मन्थनाभ्यासाद्विष्णुं पश्येद् हृदिस्थितम्॥

व्याख्या— जिस प्रकार यज्ञ में अग्नि उत्पन्न करने के लिए दो अरणियों का मन्थन किया जाता है, उसी प्रकार साधक अपने स्वदेह को अधर अरणि बनाकर और प्रणव को उत्तर अरणि बनाकर, ध्यानरूप मन्थन का निरन्तर अभ्यास करता है। इस ध्यान-मन्थन से जो हृदय में स्थित होकर सम्पूर्ण जगत् का धारण-पोषण करते है वह विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक, चेतन, पालनकर्ता परमात्मा आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष अनुभव में आने लगता है।

इन सांख्याचार्य भगवान् हारीत–देवल–शंख-सनत्कुमार के सूत्रात्मक वचनों का समग्र भाव एक ही दिशा में प्रवाहित होता है कि आत्मानुभूति, ध्यान, धारणा और प्राणक्रियाओं का वास्तविक केन्द्र हृदय है। यहाँ धारणा को मन की चंचल प्रवृत्तियों से हटाकर एक स्थान में स्थिर करने की प्रक्रिया कहा गया है, और उस स्थान के रूप में स्पष्टतः अन्तःशरीरगत हृदय तथा ललाट का निर्देश किया गया है। यह स्वयं सिद्ध करता है कि शास्त्रकार के लिए हृदय और ललाट दो भिन्न अधिष्ठान हैं, यदि हृदय का अर्थ मस्तिष्क होता, तो ललाट का पृथक् उल्लेख अनावश्यक हो जाता।

प्राणवायुओं के विषय में जब कहा गया कि प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान एक साथ ऊपर की ओर गमन कर मूर्धा में संकुचित होकर निवृत्त होते हैं, तब उस अवस्था को उद्वात कहा गया है। यहाँ मूर्धा को स्पष्ट रूप से शीर्षदेश माना गया है, जहाँ प्राणों की उर्ध्वगति समाप्त होती है। जबकि हृदय आत्मा का मूल केन्द्र है। दोनों की भूमिकाएँ भिन्न हैं और दोनों को एक मान लेना शास्त्रसम्मत नहीं है।

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

समान वायु के वर्णन में श्रोत्र, हृदय और नाभि इन तीनों का एक साथ उल्लेख किया गया है। यह वायु समस्त प्राणक्रियाओं का समन्वय करती है, पाचन, रसस्रवण और ज्ञान-अनुभूति को एकसूत्र में बाँधती है। यदि हृदय मात्र मस्तिष्क का पर्याय होता, तो इस प्रकार नाभि और श्रोत्र के साथ उसका पृथक् कार्यक्षेत्र बताना सम्भव ही नहीं होता।

ध्यानयोग के प्रसंग में जब कहा गया कि हृत्स्थस्य ध्यानयोगेन देवदेवस्य दर्शनम्, तब यहाँ देवदेव से अभिप्राय उस परमात्मस्वरूप चेतना से है जो हृदय में स्थित है। साधक जब बाह्य विषयों से मन को समेटकर हृदयस्थ चेतना में एकाग्र करता है, तब वही अन्तःस्थित देवदेव प्रकट होता है। इसी भाव को और दृढ़ करते हुए कहा गया कि हृदय में समस्त देवता प्रतिष्ठित हैं, वहीं प्राण स्थित है, वहीं समस्त ज्योतियाँ और सूर्य भी प्रतिष्ठित है। इसका तात्पर्य यह है कि जो प्रकाश बाहर सूर्यरूप में दिखाई देता है, वही अन्तःकरण में चेतनाज्योति के रूप में हृदय में विद्यमान है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् का सूक्ष्म कारण, उसका जीवन और उसका प्रकाश सबका अधिष्ठान हृदय को ही कहा गया है। इसलिए हृदय को ब्रह्मपुर, देवायतन और आत्मा का मूल केन्द्र कहा गया।

अन्ततः अरणि-उपमा द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि साधक अपने स्वदेह को अधर अरणि और प्रणव को उत्तर अरणि बनाकर ध्यानरूप मन्थन करता है। इस निरन्तर अभ्यास से हृदय में स्थित वह विष्णु अर्थात् सर्वव्यापक, चेतन, पालनकर्ता आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष अनुभव में आने लगता है। इन समस्त वचनों का संयुक्त निष्कर्ष यही है कि सूत्रों और उनके भाष्य में हृदयपुण्डरीक और मूर्धा को स्पष्ट रूप से अलग-अलग अधिष्ठान माना गया है।

॥ शतपथ ब्राह्मण और आत्मा ॥

शतपथ में मस्तिष्क की संरचना किस प्रकार दी है देखते हैं— मस्तिष्क की संरचना में भी दो मुख्य भाग हैं, सेरिब्रम (Cerebrum-बृहन्-मस्तिष्क) और सेरिबैलम (Cerebellum-लघु मस्तिष्क)। जिस प्रकार पुरोडाश के दो भाग किए जाते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क के ये दो भाग भी अग्नि और सोम की क्रियात्मक भिन्नता और पूरकता को दर्शाते हैं।

शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालान्येतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि तद्वा एतदेकमङ्गमेकं सह करवाव समानं करवावेति तस्माद्वा एतदुभयं सह क्रियते। [१.२.१.२]

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— निश्चय ही यह पुरोडाश यज्ञ का 'शिर' (सिर) है। जो ये मनुष्य के सिर की हड्डियाँ (कपाल/स्कल) हैं, वही इस पुरोडाश के (पकाने के लिए प्रयुक्त) कपाल हैं। पुरोडाश का जो पिसा हुआ आटा (पिष्ट) है, वह वास्तव में मस्तिष्क (Brain matter) ही है। अर्थात् पुरोडाश का कपाल वही कपाल है जो इस हमारे सिर का है, और उसमें पीस कर रक्खी हुई चावलों की पिट्ठी वस्तुतः मस्तिष्क है।

'मस्तिष्क एव पिष्टानि' (१/२/१/२) का सिद्धांत यह स्पष्ट करता है कि यज्ञीय कर्मकांड (पुरोडाश विभाजन) वास्तव में मनुष्य की मानसिक और जैविक संरचना का ही प्रतीकात्मक चित्रण है, जहाँ संकल्प शक्ति (अग्नि) को प्रधान और जीवन रस (सोम) को उसका सहायक माना गया है। यहां मस्तिष्क की संरचना का विस्तृत वर्णन है विषयांतर होने से यहां नहीं लिख रहें हैं जिज्ञासु जन वहीं से जान लें।

[**विशेष टिप्पणी**:- जिस प्रकार लोक में कपाल (खोपड़ी) और मस्तिष्क मिलकर एक अंग 'शिर' कहलाते हैं, उसी प्रकार यज्ञ में 'कपाल' और उस पर रखे 'पुरोडाश' का साथ प्रयोग होने से यज्ञ-शिर की पूर्णता सिद्ध होती है।]

॥ शतपथ ब्राह्मण और हृदय ॥

अब शतपथ ब्राह्मण में हृदय का क्या स्थान है, इसे देखते हैं। शतपथकार हृदय और मस्तिष्क को अलग-अलग मानते हैं। इसके लिए [३.८.३.११] में स्पष्ट रूप से कहते हैं—

"स एष शीर्षन्मस्तिष्कोऽनूक्यश्च मज्जा"— अर्थात् शीर्ष (सिर) में मस्तिष्क और अनूक्य में मज्जा उत्पन्न हुई इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार मस्तिष्क को सिर में स्थित एक स्वतंत्र अंग के रूप में जानता है।

इसके पश्चात् [३.८.३.१५] में आगे वर्णन करते हैं— **स हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यति। तद्यन्मध्यतः सतो हृदयस्याग्रेऽवद्यति। प्राणो वै हृदयमतो ह्ययमूर्ध्वः। प्राणः संचरति। प्राणो वै पशुर्यावद्ध्येव प्राणेन प्राणिति। तावत्पशुरथ यदास्मात्प्राणोऽपक्रामति। दार्वेव तर्हि भूतोऽनर्थ्यः शेते।**

व्याख्या— (**स हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यति**) हृदय शरीर के अग्रभाग में स्थित है, यानी यह शरीर का केंद्रीय स्थान है। (**तद्यन्मध्यतः सतो हृदयस्याग्रेऽवद्यति**) हृदय मध्य भाग से थोड़ा आगे है, यह शरीर का मुख्य केंद्र माना गया है। (**प्राणो वै हृदयमतो ह्ययमूर्ध्वः**) प्राण हृदय से ऊपर की ओर संचारित होता है। यानि जीवन-शक्ति (**प्राण**) का स्रोत हृदय है, और उसके

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

माध्यम से (**प्राणः संचरति**) प्राण पूरे शरीर में प्रवाहित होता है, शरीर में जीवन-क्रिया इसी से संभव है। (**प्राणो वै पशुर्यावद्ध्येव प्राणेन प्राणिति**) प्राणी का जीवन प्राण के द्वारा चलता है। (**तावत्पशुरथ यदास्मात्प्राणोऽपक्रामति**) जब तक प्राण शरीर में है, प्राणी जीवित रहता है। (**दार्वेव तर्हि भूतोऽनर्थ्यः शेते**) प्राण निकल जाने पर शरीर मृत जैसा हो जाता है।

इससे क्या आया? यही की हृदय तो बीच में है और "हृदय प्राण है, यहीं से प्राण ऊपर को जाता है।" यहाँ हृदय के स्थान और उसके कार्य दोनों का वर्णन है। मस्तिष्क शरीर के मध्य में नहीं, बल्कि सिर में स्थित होता है। साथ ही, यहाँ हृदय को प्राण अर्थात् जीवन-शक्ति और श्वास से जोड़ा गया है, यह भेद स्पष्ट करता है कि हृदय को मस्तिष्क नहीं मान सकते।

आगे [३.८.३.१६] में— **हृदयमु वै पशुः। तदस्यात्मन एवाग्रेऽवद्यति। तस्माद्यदि किंचिदवदानं हीयेत न तदाद्रियेत। सर्वस्य हैवास्य तत्पशोरवत्तं भवति। यद्धृदयस्याग्रेऽवद्यति। तस्मान्मध्यतः सतो हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यत्यथ यथापूर्वम्।**

व्याख्या— (**हृदयमु वै पशुः**) हृदय प्राणी का मूल, आत्मा और जीवन का आधार है। (**तदस्यात्मन एवाग्रेऽवद्यति**) आत्मा सीधे हृदय में स्थित है। (**तस्माद्यदि किंचिदवदानं हीयेत**) इसलिए यदि हृदय को कोई क्षति पहुँचती है (**न तदाद्रियेत**) तो प्राणी उसे दर्द या कष्ट के रूप में अनुभव न करे। (**सर्वस्य हैवास्य तत्पशोरवत्तं भवति**) हृदय से ही पूरे शरीर के अंगों का जीवन और क्रियाशीलता चलती है। (**यद्धृदयस्याग्रेऽवद्यति**) यदि हृदय को कुछ हो जाए (**तस्मान्मध्यतः सतो हृदयस्यैवाग्रेऽवद्यत्यथ यथापूर्वम्**) तो यह पूरे शरीर के मध्य में हृदय से ही नियंत्रित और संचारित होता है, जैसा पहले वर्णित किया गया।

भावार्थ— हृदय को "पशु की आत्मा" कहा गया है और बताया गया है कि पहले हृदय को काटने से सम्पूर्ण पशु का ही काटना हो जाता है। यह कथन प्रतीकात्मक है जिसका तत्व आगे कभी बतलाएंगे।

इसके अतिरिक्त [३.८.३.१७–१८] में जिह्वा, वक्षस्, दोष्णि, पार्श्व और वृक्क आदि अंगों का क्रमवार उल्लेख है, **"अथ जिह्वायै, अथ वक्षसः अथ वृक्कयोः"**— जिसमें मस्तिष्क का उल्लेख नहीं आता, क्योंकि उसका वर्णन पहले ही [३.८.३.११] ग्रंथाकार कर आए हैं।

अतः इन सभी कंडिकाओं के संयुक्त प्रमाण से यह निष्कर्ष निश्चित होता है कि इस वैदिक गद्यांश में "हृदय" का अर्थ मस्तिष्क न होकर हृदय को प्राण और जीवन-केन्द्र के रूप में

Kapil Sankhya Yoga Anusandhan Kendra

तथा मस्तिष्क को सिर में स्थित एक पृथक् अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। इसलिए हृदय को मस्तिष्क मानना युक्तिसंगत नहीं है यह बात भगवान् याज्ञवल्क्य को अभीष्ट हो ही नहीं सकती।

तान्वै प्रातःसवने गृह्णीयात्। आग्रयणं गृहीत्वात्मा वा आग्रयणो बहु वा इदमात्मन एकैकमतिरिक्तं क्लोम हृदयं त्वद्यत्त्वत्। [४.५.४.६]

व्याख्या— इनको प्रातःसवन में लेना चाहिए, आग्रयण ग्रह को लेने के पीछे। आग्रयण आत्मा है। अन्य इसके एक-एक करके अतिरिक्त अंग हैं जैसे क्लोम (फेफड़े) और हृदय तथा अन्य॥

इस मंत्र का आशय गद्य रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है—

यह कहा जा रहा है कि इन सबको प्रातःसवन में ग्रहण करना चाहिए। आग्रयण-ग्रह को लेने का कारण यह है कि आग्रयण स्वयं आत्मा का प्रतीक है। यज्ञ में आत्मा को मूल तत्त्व माना गया है और उसके साथ जो अन्य अंग जोड़े जाते हैं, वे आत्मा के अतिरिक्त अंग माने जाते हैं। इस क्रम में क्लोम (जो श्वास–प्राण से सम्बद्ध अंग है) और हृदय का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ शरीर के वास्तविक अंगों की ही बात हो रही है। हृदय को क्लोम के साथ गिना गया है, इसलिए इसका अर्थ मस्तिष्क नहीं हो सकता। वैदिक दृष्टि में चेतना, मन और प्राण का केन्द्र हृदय ही है, न कि मस्तिष्क। अतः इस संदर्भ में हृदय का अर्थ वही शारीरिक और वैदिक अर्थ वाला हृदय है, जो प्राण और आत्मा के कार्यों का आधार माना गया है। मस्तिष्क सिर में स्थित है और हृदय शरीर के मध्य में जहां फेफड़े आदि अंग स्थित है, दोनों का अलग अलग वर्णन आने से वैदिक साहित्यों में हृदय और मस्तिष्क की भिन्नता साफ़ होती है

॥ कौषीतकि ब्राह्मण और आत्मा ॥

कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् के दूसरे अध्याय का मंत्र देखिए:-

अथ प्रोष्यायन्पुत्रस्य मूर्धानमभिमृशति। गादंगात् संभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि से जीव शरदः शतम्। असाविति नामास्य गृह्णाति। अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव॥ २४॥

व्याख्या— (**अथ**) इसके बाद (**प्रोष्यायन्**) प्रवास से लौटकर (**पुत्रस्य**) पुत्र के (**मूर्धानम्**) मस्तक को (**अभिमृशति**) स्पर्श करता है। (**गादङ्गात्**) गहन अंग से, मूल अंग से

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

(**सम्भवसि**) तू उत्पन्न होता है (**हृदयात्**) हृदय से (**अधिजायसे**) विशेष रूप से जन्म लेता है। आत्मा (**वै**) वास्तव में आत्मा ही (**पुत्र**) पुत्र (**नाम**) नाम से (**असि**) है (**सः**) वह (**जीव**) जीवित रहे (**शरदः शतम्**) सौ वर्षों तक। (**असौ इति**) 'यह है' इस प्रकार (**नाम**) नाम (**अस्य**) उसका (**गृह्णाति**) ग्रहण करता है। (**अश्मा भव**) पत्थर के समान दृढ़ हो (**परशुः भव**) कुल्हाड़ी के समान तेजस्वी हो (**हिरण्यम् भव**) स्वर्ण के समान तेजोमय हो (**अस्तृतम् भव**) अविनाशी, अप्रभावित हो।

भावार्थ— परदेश (बाहर) से लौटकर आने पर पिता अपने पुत्र के मस्तक (सिर) का स्पर्श करता है या उसे सूंघता है। और कहता है कि "तू मेरे प्रत्येक अवयव से उत्पन्न हुआ है, तू हृदय से उत्पन्न हुआ है, हे पुत्र सचमुख तू मेरी आत्मा है, सो तू सौ वर्ष पर्यन्त जी।" यहाँ पर सिर को स्पर्श करने की बात पहले आई है बाद में हृदय की बात आई है जो हृदय ही मस्तिष्क होता तो ऐसे अलग अलग नाम से उल्लेख न होता।

इसी के अगले मंत्र मे मस्तिस्क क फिर वर्णन है सो वो देखिए—

ते नाम्ना मूर्धानम् अभिजिनामि असौ इति। त्रिः अस्य मूर्धानम् अभिजिघ्रेत्। गवाम् त्वा हिंकारेण अभिहिंकरोमि इति। त्रिः अस्य मूर्धानम् अभिहिंकुर्यात्॥ २५॥

व्याख्या— (**ते**) उस (**नाम्ना**) नाम के द्वारा (**मूर्धानम्**) मस्तक को (**अभिजिनामि**) स्पर्श करता हूँ (**असौ इति**) 'यह है' इस प्रकार कहकर। (**त्रिः**) तीन बार (**अस्य**) इसके (**मूर्धानम्**) मस्तक को (**अभिजिघ्रेत्**) स्पर्श करे, अभिमन्त्रित करे। (**गवाम्**) गौओं के समान (**त्वा**) तुझे (**हिंकारेण**) 'हिं' शब्द द्वारा (**अभिहिंकरोमि**) हिंकार करता हूँ, बल देता हूँ (**इति**) ऐसा कहकर। (**त्रिः**) तीन बार (**अस्य**) इसके (**मूर्धानम्**) मस्तक को (**अभिहिंकुर्यात्**) हिंकार से अभिमन्त्रित करे।

यहाँ पर भी मस्तिस्क छुने कि बात आई है हृदय कि नही और जो ब्राह्मण ग्रंथ संपूर्ण इतिहास मानते हैं, उनके मत से ही उनका खंडन करते हैं। इस उपनिषद के तीसरे अध्याय में [**त्रिशीर्षाणं...**] त्वष्टा के तीन मस्तक वाले पुत्र का वर्णन आता है। चूंकि उसके तीन सिर हैं, तो उसके अंदर तीन हृदय भी होने चाहिए थे। [हृदय को मस्तिस्क मानने वालो के मत के अनुसार] तो सवाल यह है कि तीन मस्तक की जगह "त्रिहृदयः" (तीन हृदय वाला) नाम क्यों नहीं पड़ा उसके पुत्र का?

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

॥ तैत्तिरीय आरण्यक और आत्मा ॥

दह्रं विपापं परमेश्मभूतं यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्। तत्रापि दह्रं गगनं विशोकस्तस्मिन्, यदन्तस्तदुपासितव्यम्॥ २३॥ [दशमः प्रपाठकः/दशमः अनुवाकः/२३]

व्याख्या— शरीर के भीतर जो आठ दलों वाला पुण्डरीक कहा गया है, वही यहाँ उपासना का आश्रय है। यह पुण्डरीक दहर है अर्थात् आकार में छोटा और सूक्ष्म है। यह पापरहित है, क्योंकि यह शरीर से सम्बन्धित दोषों से स्पृष्ट नहीं होता। यही पुण्डरीक परब्रह्म आत्मा का वेश्म, अर्थात् निवास-स्थान है। इसे वेश्म या गृह इस कारण कहा गया है कि आत्मा सदा वहीं उपलब्ध रहती है। जिस प्रकार किसी नगर के मध्य राजा का प्रासाद स्थित होता है, (**यत्पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्**) उसी प्रकार यह पुण्डरीक इस "शरीररूप नगर के मध्य स्थित" है। उस दहर पुण्डरीक के भीतर जो और भी दहर अत्यन्त सूक्ष्म आकाश है, वही ब्रह्मस्वरूप है। यह अमूर्त है और आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त है। ब्रह्म सर्वव्यापी होने पर भी, घटाकाश के दृष्टान्त के अनुसार पुण्डरीक-स्थान की अपेक्षा से उसे दहर कहा गया है। अतः यहाँ 'दहर' शब्द का प्रयोग उपचरित, अर्थात् लाक्षणिक है। इस दहराकाश का ब्रह्मत्व शास्त्र में दहराधिकरण द्वारा निश्चित किया गया है। वही ब्रह्म अन्तःस्थित है, शोक से रहित है, और गगन-शब्द द्वारा अभिहित किया गया है। इस प्रकार उस पुण्डरीक के अन्तरमध्य में जो ब्रह्मतत्त्व स्थित है, उसी की उपासना करनी चाहिए। यह उपासना विजातीय प्रत्ययों से रहित होकर, सजातीय प्रत्ययों की अविच्छिन्न धारा के साथ की जानी चाहिए अर्थात् उसी ब्रह्म का निरन्तर, एकरूप चिन्तन करना चाहिए।

सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्वशंभुवम्। विश्वं नारायणं देवमक्षरं परमं पदम्।

[दशमः प्रपाठकः/त्रयोविंशः अनुवाकः/१]

व्याख्या— वह नारायण जो सहस्रशीर्ष, दिव्य, सम्पूर्ण जगत को जानने वाला और पालन करने वाला, सम्पूर्ण जगत में स्थित, अक्षर (अविनाशी), परम (सर्वोच्च), प्रभु (सर्वेश्वर) है वही एक परमेश्वर है।

विश्वतः परमान्नित्यं विश्वं नारायणꣳ हरिम्। विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति॥ २॥

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

व्याख्या— जो सम्पूर्ण जगत का धारक है, जो परम और नित्य है, वही नारायण हरि है; वास्तव में यही सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त किए हुए है, और वही इस सम्पूर्ण विश्व का पालन करता है।

पतिं विश्वस्याऽऽत्मेश्वरꣳ शाश्वतꣳ शिवमच्युतम्। नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम्॥ ३॥

व्याख्या— जो सम्पूर्ण जगत का स्वामी है, सभी आत्माओं का ईश्वर है, जो शाश्वत, कल्याणकारी और अच्युत है, वही नारायण है जिसे जानना ही महान् ज्ञान है, जो सम्पूर्ण विश्व का आत्मा है और सबका परम आश्रय है।

नारायणः परो ज्योतिरात्मा नारयणः परः। नारायण परं ब्रह्मतत्त्वं नारायणः परः। नारायण परो ध्याता ध्यानं नारायणः परः॥ ४॥

व्याख्या— नारायण परम ज्योति हैं अर्थात् समस्त ज्ञान, चेतना और प्रकाश का अंतिम स्रोत। वही परम आत्मा हैं सबके भीतर स्थित, सबके आधार। वही परं ब्रह्मतत्त्व हैं निर्गुण, निरुपाधिक, सर्वव्यापक सत्य। नारायण ही परम ध्याता हैं ध्यान करने वाला चैतन्य, और नारायण ही ध्यान हैं जिसमें चित्त स्थित होता है।

यच्च किंचिज्जगथ्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तथ्सर्वं व्याप्य नारायणस्थितः॥ ५॥

व्याख्या— एक कण से लेकर ब्रह्माण्ड तक, सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक सब। चाहे उसे नेत्र से देखा जाए, या शास्त्रों से जाना जाए। यह इंगित करता है कि ईश्वर की व्याप्ति केवल प्रत्यक्ष वस्तुओं में ही नहीं, बल्कि अप्रत्यक्ष या श्रुत वस्तुओं में भी है। भीतर (हृदय, आत्मा में) और बाहर (जगत, आकाश, दिशा) कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ नारायण न हो। जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त होकर भी असंग है, वैसे ही नारायण सर्वत्र व्याप्त होकर भी अपने स्वरूप से अचल, नित्य और असंग है। व्याप्ति का अर्थ यह नहीं कि वह वस्तु में लीन हो गया है, बल्कि वह अपनी सत्ता से सबको आधार और जीवन देता है।

परमात्मा का वर्णन करने के पश्चात् भगवान् तित्तिर अगले मन्त्र में वर्णन करते हैं कि परमात्मा कहां पर प्राप्त हो सकता है।

अनन्तमव्ययं कविꣳ समुद्रेऽन्तं विश्वशम्भुवम्। पद्मकोशप्रतीकाशꣳ हृदयं चाप्यधोमुखम्॥ ६॥

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

व्याख्या— (**अनन्तम्**) उसकी अनन्तता सत्ता, शक्ति और गुण तीनों में व्याप्त है। वह किसी काल या अवस्था में बँधा हुआ नहीं है। (**अव्ययम्**) वह परमात्मा जो समय, परिवर्तन और विकार से परे है। प्रकृति में जो कुछ भी है, वह जन्म-वृद्धि-क्षय-नाश के नियम से बँधा है, परन्तु ईश्वर इन सभी परिवर्तनों से अछूता, सदा एकरस और अविनाशी है। (**कविम्**) सर्वज्ञ, द्रष्टा, दूरदर्शी। वह जो भूत-भविष्य-वर्तमान को एक साथ, यथार्थ रूप में जानता है। अतः परमात्मा को यहाँ सर्वज्ञ के रूप में निरूपित किया गया है। (**समुद्रेऽन्तम्**) इस "हृदय-समुद्र" के अन्तःस्थल में, उसकी गहराई में, परमात्मा का ध्यानस्थल है। (**विश्वशम्भुवम्**) वह सम्पूर्ण विश्व का कल्याणकर्ता है। (**पद्मकोश-प्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्**) योगशास्त्र में जिस हृदयस्थ चैतन्य-स्थान का वर्णन है, उसे उलटे कमल की कली के समान कहा गया है। उसकी पंखुड़ियाँ ऊपर से नीचे की ओर झुकी हुई मानी गई हैं, इसलिए उसे अधोमुख पद्म कहा गया है। यही वह स्थल है जहाँ ईश्वर-ध्यान का विधान किया गया है।

पूर्ववर्ती मन्त्र में महर्षि तित्तिरि यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि जिस हृदय में आत्मा का निवास है, वह कमल के समान है किन्तु सीधा नहीं, बल्कि अधोमुख, अर्थात् उल्टे कमल की भाँति। उसी कमल-सदृश हृदय का चित्र ऊपर प्रस्तुत किया गया है।

किन्तु महर्षि यह भी भली-भाँति जानते हैं कि भविष्य में कोई व्यक्ति यह शंका कर सकता है कि जिस उल्टे कमल के समान हृदय का वर्णन किया गया है, कहीं वह मस्तिष्क का ही रूपक तो नहीं है? कहीं ऐसा न मान लिया जाए कि आत्मा का अधिष्ठान मस्तिष्क है और उसी को हृदय कहा गया है। इसी सम्भावित शंका के निवारणार्थ महर्षि तित्तिर अगले ही मन्त्र में उस हृदय की स्थिति को शारीरिक रूप से अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में निर्दिष्ट कर देते हैं—

अधो निष्ट्या वितस्त्यान्ते नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं
तद्विजानीयाद्विश्वस्याऽऽयतनं महत्॥ ७॥

व्याख्या— (**अधो निष्ट्या**) ग्रीवा (गर्दन) के नीचे, (**नाभ्याम् उपरि**) नाभि के ऊपर, और (**वितस्त्यान्ते**) लगभग द्वादश अङ्गुल (एक वितस्ति) की सीमा के भीतर जो अंग स्थित है और निरन्तर विद्यमान रहता है, (**हृदयं तद्विजानीयात्**) उसे ही हृदय जानना चाहिए। मस्तिष्क न तो ग्रीवा के नीचे स्थित है, न नाभि के ऊपर, और न ही वह वितस्ति-परिमाण के भीतर आता है। मस्तिष्क तो शरीर के ऊर्ध्व भाग में, खोपड़ी के भीतर स्थित है। अतः

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

यह असम्भव है कि उपनिषद अथवा वेदमन्त्र में मस्तिष्क को 'हृदय' कहा गया हो। इस प्रकार शास्त्रकार यह निर्णायक रूप से सिद्ध कर देते हैं कि शास्त्रों में जिस हृदय की चर्चा है, वह वही हृदय है जो दोनों स्तनों के मध्य स्थित है, जिसे सामान्य व्यवहार में भी शरीर का हृदय कहा जाता है। यह वही स्थान है जहाँ आत्मा का अधिष्ठान माना गया है।

फिर महर्षि इस हृदय का महत्त्व बताते हुए कहते हैं, (**विश्वस्य महत् आयतनम्**) अर्थात् परामपिता परमात्मा जो सम्पूर्ण विश्व का आयतन है उसका भी निवास उसी हृदय में है, वह उस हृदय में स्थित आत्मा का भी अंतरात्मा है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसी हृदय रूपी गुहा मे खोजने से ही सरलता से परमात्मा मिल सकता है। अन्य कोई उसके पाने का उत्तम स्थान नहीं है।

इस प्रकार महर्षि तित्तिरि न केवल आत्मा के निवास-स्थान को स्पष्ट करते हैं, बल्कि यह भी सिद्ध करते हैं कि वेद और उपनिषद् परम्परा में आत्मा का अधिष्ठान मस्तिष्क नहीं, बल्कि हृदय है वह हृदय जो अधोमुख पुण्डरीक के समान है।

सन्ततꣳ शिलाभिस्तु लम्बत्याकोशसन्निभम्। तस्यान्ते सुषिरꣳ सूक्ष्मं तस्मिन्थ्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ ८॥

व्याख्या— यह हृदय, (**आकोश–सन्निभ**) पद्ममुकुल के समान है अर्थात् अभी पूर्णतया विकसित न हुआ हुआ कमल कली जैसा वह (**शिलाभिः सन्ततम्**) अर्थात् असंख्य शिराओं (नाड़ियों) से सर्वथा व्याप्त होकर, शरीर के मध्यभाग में अधोमुख रूप से रहता है। इस प्रकार यह **हृत्कमल ऊपर की ओर न खुलकर नीचे की ओर उन्मुख होकर** स्थित है, मानो **शरीर नगर के मध्य में उल्टा लटका हुआ** कोई सूक्ष्म कमल हो। उस हृदय के अन्ते, अर्थात् उसके अत्यन्त समीप, एक अत्यन्त सूक्ष्म सुषिर विद्यमान है। यह अत्यन्त सूक्ष्म और गूढ़ नालिका है, जिसे योगशास्त्र में सुषुम्ना नाड़ी का मुख कहा गया है। वही नालिका ऊर्ध्वगमन का मार्ग बनती है, और उस सूक्ष्म सुषिर में ही (**सर्वं प्रतिष्ठितम्**) अर्थात् सम्पूर्ण जगत् अपने सूक्ष्म कारणरूप में अवस्थित है।

तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः। सोऽग्रभुग्विभजन्तिष्ठन्नाहारमजरः कविः॥ ९॥

व्याख्या— उस सुषुम्नानाल के मध्य एक महान् बहुत ज्वालाओं से युक्त अग्नि अवस्थित है। वह अग्नि (**विश्वतोमुखः**) है, अर्थात् चारों ओर मुखों से युक्त नाड़ियों के माध्यम से सर्वत्र संसरण करने वाली वही अग्नि (**अग्रभुक्**) है जो अपने सम्मुख प्राप्त होने वाले आहार

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

को स्वयं ग्रहण करती है। वह (**अजरः**) है, अर्थात् कभी क्षीण न होने वाली, न समय से, न उपभोग से उसकी शक्ति घटती है। वह (**कविः**) है क्रान्तद्रष्ट है, यह अग्नि जो आहार स्वयं ग्रहण करती है, उसी को **विभजन्** अर्थात् सुव्यवस्थित रूप से विभक्त करती हुई शरीर के विभिन्न अङ्गों, धातुओं और तत्त्वों में वितरित करती है। इस प्रकार वह अग्नि निरन्तर (**तिष्ठन्**) अवस्थित रहते हुए, सम्पूर्ण शरीर–यन्त्र को धारण करती है।

सन्तापयति स्वं देहमापादतलमस्तकः। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थितः॥ १०॥

व्याख्या— यह अग्नि (**आपादतलमस्तकम्**) अर्थात् पैरों के तलवों से लेकर **शिरःपर्यन्त** सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर (**स्वं देहम् सन्तापयति**) पूरे शरीर को उष्णता प्रदान करती रहती है, जिसके द्वारा शरीर की सभी क्रियाएँ सक्रिय और समर्थ बनी रहती हैं। इसी अग्नि के कारण देह में चेष्टा, पाचन, संवहन और जीवन का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। किन्तु इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने पर भी, (**तस्य मध्ये**) अर्थात् उस सर्वव्यापक अग्नि के मध्य एक अत्यन्त (**सूक्ष्म वह्निशिखा**) विशेष रूप से अवस्थित रहती है। यह शिखा अणीया, अत्यन्त सूक्ष्म है, स्थूल दृष्टि से न दिखाई देने वाली, वह सूक्ष्म ज्वाला (**ऊर्ध्वा व्यवस्थितः**) है अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ऊपर की ओर स्थित रहती हुई (**तात्पर्य यह है कि वह जो वह्निशिखा है वह सुषुम्ना नाड़ी की नाल जहां पर है वहीं पर ऊपर की ओर स्थित है।**) ब्रह्मरन्ध्र तक उर्ध्वगमन की क्षमता रखती है। यही वह अग्नि–शिखा है जो साधना में प्राण और चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाती है।

नीलतोयदमध्यस्थाद्विद्युल्लेखेव भास्वरा। नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा॥ ११॥

व्याख्या— वह सूक्ष्म (**वह्निशिखा नीलतोयदमध्यस्था**) है अर्थात् वर्षा करने वाले गम्भीर नील मेघ के मध्य स्थित विद्युत् के समान। जैसे घने, श्यामल बादल के भीतर सहसा चमक उठने वाली विद्युल्लेखा क्षणमात्र में सम्पूर्ण आकाश को आलोकित कर देती है, वैसे ही यह ज्वाला भी भास्वरा है अत्यन्त कान्तिमान और तेजस्विनी। उसका स्वरूप (**नीवारशूकवत् तन्वी**) है नीवार धान के सूक्ष्म, दीर्घ पुच्छ के समान अत्यन्त पतला और कोमल। स्थूल दृष्टि से वह लगभग अदृश्य है, उसका वर्ण पीत है स्वर्णिम आभा से युक्त और वह निरन्तर भास्वती, दीप्ति से प्रकाशित रहती है। यह (**वह्निशिखा**) अणूपमा है अर्थात् इतनी सूक्ष्म है कि उसकी उपमा केवल सूक्ष्मतम वस्तु से ही दी जा सकती है।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्म स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमस्स्वराट्॥ १२॥

व्याख्या— उस अत्यन्त सूक्ष्म (**शिखाया**) पूर्वोक्त **वह्निशिखा** के मध्य में ही परमात्मा विशेष रूप से व्यवस्थित है। उस सूक्ष्मतम अग्नि–शिखा में स्थित होकर भी वह परमात्मा सर्वव्यापक रहता है। वही परमात्मा (**ब्रह्मा**) है सृष्टि का कारण, वही (**शिव**) है संहार और कल्याण का तत्त्व; वही (**हरि**) है पालन और संरक्षण का आधार, और वही (**इन्द्र**) है दैवी शक्तियों का अधिपति। वही परमात्मा अक्षर है अविनाशी, कालातीत, परिवर्तनरहित। वही (**परमः**) है माया से सर्वथा अतीत, शुद्ध और निरुपाधिक चैतन्य। और वही (**स्वराट्**) है किसी अन्य से शासित नहीं, स्वयं में ही पूर्ण, स्वतन्त्र और सर्वोच्च अधिपति। तात्पर्य यह है कि जो परमात्मा ब्रह्माण्ड का नियन्ता है, वही अत्यन्त सूक्ष्म रूप में **हृदयस्थ अग्निशिखा (वह्निशिखा)** के मध्य में अवस्थित है। बाहर वह विराट् है और भीतर अत्यन्त सूक्ष्म।

॥ महर्षि दयानन्द और आत्मा ॥

जिस समय इन सब साधनों से परमेश्वर की उपासना करके उसमें प्रवेश किया चाहें, उस समय इस रीति से करें कि (अथ यदिद०) **कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में** और उदर से ऊपर **जो हृदय देश** है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है। दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है॥ ३॥

॥ आदि शंकराचार्य और आत्मा ॥

प्रयाणकाले मरणकाले मनसा अचलेन चलनवर्जितेन भक्त्या युक्तो भजनं भक्तिः तया युक्तो योगबलेन च एव योगस्य बले योगबलं तेन समाधिजसंस्कारप्रचयजनितचित्तस्थैर्य-लक्षणं योगबलं तेन च युक्त इत्यर्थः । पूर्व हृदयपुण्डरीके वशीकृत्य चित्तम्, तत ऊर्ध्व-गामिन्या नाड्या भूमिजयक्रमेण ध्रुवोः मध्ये प्राणम् आवेश्य स्थापयित्वा, सम्यग् अप्रमत्तः सन् स एवं बुद्धिमान् योगी 'कविं पुराणम्' इत्यादिलक्षणं तं परं पुरुषम् उपैति प्रतिपद्यते दिव्यं द्योतनात्मकम् ॥ १० ॥

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

हिन्दी— (जो योगी) अन्त समय-मृत्युकालमें भक्ति और योगबलसे युक्त हुआ-अर्थात् भजनका नाम भक्ति है उससे युक्त हुआ और समाधिजनित संस्कारोंके संग्रहसे उत्पन्न हुई चित्तस्थिरताका नाम योगबल है, उससे भी युक्त हुआ, चञ्चलतारहित- अचल मनसे, पहले हृदय-कमलमें चित्तको स्थिर करके, फिर ऊपरकी ओर जानेवाली नाड़ीद्वारा चित्तकी प्रत्येक भूमिको क्रमसे जय करता हुआ भुकुटिके मध्यमें प्राणोंको स्थापन करके भली प्रकार सावधान हुआ (परमात्मस्वरूपका चिन्तन करता है) वह ऐसा बुद्धिमान् योगी 'कविं पुराणम्' इत्यादि लक्षणोंवाले उस दिव्य-चेतनात्मक परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १० ॥

सर्वद्वाराणि सर्वाणि च तानि द्वाराणि च सर्वद्वाराणि उपलब्धौ तानि सर्वाणि संयम्य संयमनं कृत्वा, मनो हृदि हृदयपुण्डरीके निरुध्य निरोधं कृत्वा निष्प्रचारम् आपाद्य, तत्र वशी-कृतेन मनसा हृदयाद् ऊर्ध्वगामिन्या नाड्या ऊर्ध्वम् आरह्य मूध्नि आधाय आत्मनः प्राणम् आस्थितः प्रवृत्तो योगधारणां धारयितुम् ॥ १२ ॥

हिन्दी— समस्त द्वारोंका अर्थात् विषयोंकी उपलब्धिके द्वाररूप जो समस्त इन्द्रियगोलक हैं उन सबका संयम करके एवं मनको हृदयकमलमें निरुद्ध करके अर्थात् संकल्प-विकल्पसे रहित करके, फिर वशमें किये हुए मनके सहारेसे हृदयसे ऊपर जानेवाली नाडीद्वारा ऊपर चढ़कर अपने प्राणोंको मस्तकमें स्थापन करके योगधारणाको धारण करनेके लिये प्रवृत्त हुआ साधक (परमगतिको प्राप्त होता है, इस प्रकार अगले श्लोकसे सम्बन्ध है) ॥ १२ ॥ यह आदि शंकराचार्य ने अपने गीता भाष्य में लिखा है। यहां भी स्पष्ट रूप से हृदयपुण्डरीक को ही आत्मा का स्थान कहा है।

Kapil Saankhya Yog Anusandhan Kendra

॥ यज्ञ ॥

यज्ञ, यह शब्द ही अपने अंदर अनेक रहस्य लिए बैठा है। यज्ञ शब्द के मुख्य अर्थ है, १) देव पूजन, २) संगति करण, ३) दान।

इसमें संगति करण में देव पूजन आ जाता है और यही इसका मुख्य अर्थ है। किंतु आज कल यज्ञ लुप्त प्रायः है, तभी तो लोग यहां तक अंधकार में है कि दैनिक अग्निहोत्र को ही यज्ञ शब्द से व्यवहार करने लगे है। अग्निहोत्र और यज्ञ में अंतर है, अग्निहोत्र एक प्रकार का यज्ञ है किंतु यज्ञ अग्निहोत्र से भी बहुत बड़ा है उसमें न जाने कितनी चीजें ही आजाती हैं। यज्ञ को संपूर्ण ब्रह्मांड की नाभि है अर्थात एक साथ बांधने वाला ऐसा वेदों में उल्लेख है सत्य ही है। वेदों के आविर्भाव से लेकर सृष्टि के प्रलय तक का बांधने वाला यह यज्ञ ही है। अंग्रेजी में कहे तो 'organized activity' को ही यज्ञ कहते है अर्थात मिल कर किए जाने वाले शुभ कर्म का नाम यज्ञ है। हम जितना सोचते है यज्ञ उससे अनंत गुना बढ़ा विषय है

यज्ञ मात्र वस्तुओं को अग्नि में डालने का नाम नहीं है अपितु आर्य समाज भी एक यज्ञ ही है, क्रांतिकारी संगठन 'HRA' (हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन) भी यज्ञ था, राष्ट्रीय सभा समितियां भी यज्ञ है, गुरुकुल आदि शिक्षा संस्थाएं भी यज्ञ अर्थात संगठन है। तात्पर्य यह है कि सब छोटे बड़े संगठन जो कि कल्याण के लिए बनाए गए है यज्ञ है। शास्त्रों में देखा जाता है कि यज्ञ को परमात्मा ने मनुष्य के हृदय में रख दिया, वह यज्ञ क्या है? यह है मनुष्य के मिलने का, मिलकर काम करने का स्वभाव मनुष्य स्वभावतः मिलनस्वभाव है यज्ञशील है।

यज्ञ के तीन अंग है— १) अपने से बड़े के साथ संबंध जुड़े रहना, २) अपने के बराबर वाले के साथ संबंध जुड़े रहना, ३) अपने से छोटे के साथ संबंध जुड़े रहना।

यह तीन प्रकार का संबंध क्रमशः देव पूजा, संगति करण और दान का होना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रत्येक संगठन, संघ में ये तीन विभाग हो सकते है। इन सब को प्रेम भाव से एक दूसरे के परोपकारार्थ, शुभ कार्यों के लिए संगठित रखना यज्ञीय है और घृणा कर अलग अलग करना अयज्ञीय है।

ऐसे देखते है तो पता लगता है कि यज्ञ के अंदर अनंत कार्य समाहित है। यज्ञ का क्षेत्र अनंत गुना बड़ा है। इसका एक उदाहरणऋषियों के ग्रंथों से दिखाते है। शतपथ ब्राह्मण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने लिखा है:- '**राष्ट्रं वा अश्वमेधा**'। अर्थात— क्या राष्ट्र एक बृहत

Kapil Saankhyayog Anusandhan Kendra

संगठन नहीं है? इस राष्ट्र को सुचारू रूप से चलाना, हर क्षेत्र में उन्नति करना, राष्ट्र को सुदृढ करना, राष्ट्र रूपी को सम्पन्न बनाने का ही नाम तो अश्वमेध यज्ञ है। बृहत संगठन राष्ट्र की उन्नति कर उसे संपन्न बनाना ही अश्वमेध है। राष्ट्र की उन्नति के लिए ही तो इस यज्ञ की कल्पना ऋषियों ने की और वेदों के मंत्रों से यह तत्व निकाला।

अब मूर्ख लोगों के अनुसार अश्वमेध या किसी भी यज्ञ में बस जो क्रिया लिखी है वो करते जाओ जैसे अश्व को शुद्ध करना, अश्व को रस्सी से बांधना, अश्व को संपूर्ण राष्ट्र में विचरण कराना, इत्यादि बस अपने आप काल्पनिक स्वर्ग का टिकट यजमान को मिल जाएगा। लेकिन ऐसा नहीं है क्योंकि देवता तो परोक्षप्रिय होते है ऐसा शास्त्रों में प्रसिद्ध है, यह क्रियाएं क्यों यज्ञ में की जाती है? इनके पीछे गहरा रहस्य है। जैसे अश्व को संपूर्ण राष्ट्र में विचरण के लिए छोड़ना अर्थात 'राजा का दिग्विजय करना है' ऐसे ही सारी क्रियाओं के पीछे यह बात छिपी हुई है कि राष्ट्र को सम्पन्न कैसे बनाना है।

उपनिषदों में प्रसिद्ध है कि जो यज्ञ का तत्व जाने बिना यज्ञ को करता है उसकी 'मूर्धा नीचे गिर पड़ेगी' अर्थात पूर्ण ज्ञान न होते हुए बस कर्म करते जाना उसका अर्थ न जानना इससे अज्ञानी का सिर समाज में नीचे हो जाता है। ऐसे ही सारे यज्ञों की क्रियाओं में वैज्ञानिक, राष्ट्रिय, सामाजिक, आध्यात्मिक, भाव छिपे हुए है उसे जानते हुए जब कोई राजा अश्वमेध करेगा तब निश्चित हर तरफ संपन्नता होने से स्वर्ग तो यहीं धरती पर ही बन जाएगा।

शतपथ ब्राह्मण में यह कथा है कि एक बार याज्ञवल्क्य जी जनक जी एक साथ वार्ता कर रहे थे तब जनक जी ने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य क्या आप यज्ञ का तत्त्व जानते है? जब यह यज्ञ पद्धतियां आदि निर्मित नहीं हुई थी तब यज्ञ किससे करते थे? क्या तब यज्ञ होते थे? कैसे? याज्ञवल्क्य जी ने उत्तर दिया कि हे जनक महाराज यज्ञ तो तब भी होते थे जब यह बाहर के अग्निहोत्र आदि निर्मित नहीं हुए थे। तब यज्ञ आंतरिक होते थेऔर उस समय सत्य का श्रद्धा में हवन हुआ करता था। इसपर जनक ने कहा हे याज्ञवल्क्य तुम यज्ञ के तत्व को जानते हो।

असल में तो अग्निहोत्र का निर्माण ही सत्य में श्रद्धा का हवन करना है हर मनुष्य को यह दिखाने के लिए ही हुआ था लेकिन इस बाह्य कर्मकाण्ड को करते-करते लोग इसका मूल तत्व भूल सा गए और सत्य में श्रद्धा का हवन होना बंद हो गया। बाह्य कर्मकाण्ड भी आवश्यक है क्योंकि उसी से अज्ञानी जनो को कर्म में प्रीति होती है किंतु उसका तत्व भी

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

बहुत आवश्यक है। इसी प्रकार शतपथ आदि में वर्णित हर यज्ञ का तत्व हमें विचार करना चाहिए।

॥ यज्ञों में पशुबली का प्रश्न ॥

क्या यज्ञों में पशुबली होती थी? अब हम लोग जो यज्ञ का सही स्वरूप जान गए है तो भला सोचिए इसके लिए पुनः 'अश्वमेध' को ही ध्यान में रखिए कि कैसे यह यज्ञ राष्ट्र की उन्नति के लिए है। अब खुद बताइए कि क्या अश्व अर्थात राजा की हत्या कर ही राष्ट्र में संपन्नता आएगी? बिल्कुल नहीं फिर कोई कैसे कह सकता है कि अश्वमेध आदि में पशु की बलि होगी। यज्ञ तो नाट्य है उसके पात्र पशु, यज्ञ वेदी, कुशा, अन्न, आदि अनेक है, यह पात्र किसी विशेष चीजों के प्रतीक है। उन प्रतीकों का सही उपयोग सीखना चाहिए। पशु भी अनेक चीजों का प्रतिनिधि है अध्यात्म में, दैवत, भौतिक, राष्ट्रीय, आदि पक्षों में। भला उसकी हत्या कर किसी को क्या फल?

'नवीन मीमांसाको' के अनुसार पशु को मार उसको स्वर्ग में भेजा जाता है जोकि एक कोरी कल्पना है। पहली बात स्वर्ग इसी धरती पर है, देवता हम मनुष्यों में से ही होते है, तो भला कैसे पशु की बलि से उसे किसी काल्पनिक स्वर्ग में पहुंचाएंगे?

फिर भी जिज्ञासुओं को प्रश्न होता है कि हम मानते है 'वेदों' में किसी पशु को मारने की बात नहीं है फिर भी 'ब्राह्मण ग्रन्थ' जोकि वेदों के 'व्याख्यान ग्रन्थ' है, उनमें पशु बलि के वाक्य दिखते है स्पष्ट रूप से उनका क्या? हम इसपर यही कहेंगे कि यह सब शतपथ आदि का 'तत्त्वार्थ' न जानने के कारण है। हम पूरे विश्वास के साथ कह सकते है कि शतपथ ब्राह्मण कांड 3 हो या फिर कांड 13 उसमें जो पशु बलि के वाक्य है जिसे दिखा-दिखा कर छाग और अश्व की बलि सिद्ध की जाती है वहां ऐसा कुछ भी नहीं लिखा है। भाष्यकारों को शतपथ का तत्व समझ नहीं आया यह कहना पड़ता है। किसी और लेख अथवा स्वयं विस्तृत ग्रन्थ लिख कर किसी दिन शतपथ ब्राह्मण से पशु बलि का संपूर्ण निवारण करेंगे। तब तक बाह्य अग्निहोत्र के साथ-साथ सत्य में श्रद्धा का हवन करते रहे।

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

॥ अभाव पदार्थ ॥

अनुभूमिका

वैदिक दर्शन की प्राचीन परंपरा में पदार्थों का निर्णय सबसे प्रमुख विषय रहा सभी दर्शनों ने इसपर मीमांसा की जहां ऋषि कपिल ने मोक्ष दयानी श्रुति से २५ पदार्थों का अमृतस्वरूप विवेक ज्ञान को निकाला उसी प्रकार ऋषि मेधातिथि ने वाद की व्यवस्था कर १६ पदार्थों को प्रमेय बताया जिसमें जड़ चेतन सब पदार्थों का अन्तर्भाव किया जाता है एवं वैशेषिक के ६ पदार्थ की चर्चा एवं इसी प्रकार सभी दर्शन पदार्थ मीमांसा करते हैं अब हम अगर २५ तत्त्वों को देखे जो सांख्य में है तो इसमें पुरुष का अन्तर्भाव द्रव्य आत्मा में हो जाता है एवं उसके पश्चात सत रज तम को कहा जा सकता है जो द्रव्य है जो स्वयं अवयव है अर्थात इसका कोई अवयव नहीं उनकी गुण संज्ञा उनके मिथुनिभूत होने के स्वभाव मात्र से है[1] वास्तव में यह गुण नहीं है। तन्मात्र को परमाणु कहा जाता है जो अपने अंदर शब्द आदि गुण को समवेत रखते हैं एवं इसके बाद अहंकार को भी इसी प्रकार समझना चाहिए ६ दर्शनों में विरोध है? कुछ कथित विद्वान इस प्रश्न को सुनते है मानो पूछने वाले को नेत्र मात्र से चबा जाना चाहते है कि आखिर वह जिस अकीदे पर ईमान लाएं हैं उसपर कोई प्रश्न कैसे कर सकता है पर मन बुद्धि तो ऐसी ही है हम इस बात की परीक्षा करेंगे जो यह मानता है कि ६ दर्शन के मंतव्य में विरोध है इसपर जो जो वह आक्षेप करते है उनको एक एक करके परीक्षित किया जाएगा

विशेष:- नव्य न्याय की काक भाषा से हमे कोई औचित्य नहीं न ही उसे सिध्दांत रूप में लेकर कोई भी विमर्श देंगे न्याय का तात्पर्य केवल ऋषि प्रणीत सूत्र ऋषि प्रणीत भाष्य है

सत्कार्यवाद ऐसा ही एक विषय है इसका विरोध वैशेषिक सिद्धांत असत्कार्यवाद से है पर जब हम इसका अध्ययन करते है तो ऐसा कुछ नहीं पाते ऋषि पक्षिळ स्वामी (वात्स्यायन नाम से प्रसिद्ध) ने स्वयं इन दोनों के सिद्धांत की पूरकता को चिन्हित किया है बुद्धिसिद्धन्तु तदसत्' [न्याय ४। १।५०।] में इसपर उचित चर्चा हैं एवं इनके प्रचलित अर्थ का खंडन और सही[2] अर्थ का मंडन खुद ऋषि वात्स्यायन इस प्रकार करते हैं कि कोई वस्तु अपने उत्पन्न होने से पहले सत नहीं हो सकती वरना जो पहले से ही है उसके उत्पन्न होने की बात ही नहीं हो सकती एवं उपादान नियम के होने से कार्य का कारण रूप से अपने कारण

Kapil Saankhy a Yog Anusandhan Kendra

में होना बुद्धि से सिद्ध है यह बात वात्स्यायन जी ने सांख्य के सूत्रों [उपादाननियमात] का उल्लेख करते हुए कहा है तो इससे सत्कार्यवाद का सिद्धांत यह हुआ कि वह कार्य जो कारण में सत है ऐसे सिद्धांत को मानना ही सत्कार्यवादी का लक्षण हुआ एवं इसी प्रकार कार्य का उत्पत्ति से पूर्व कार्य रूप में उपस्थित न होना असत्कार्यवाद है तो इसमें विरोध किधर है ? यह तो दो अलग वस्तु की व्याख्या करते है एक सिद्धांत जहां 'कारण रूप' में उपस्थित कार्य की अवस्था बताता हैं वहीं दूसरा सिद्धांत 'कार्य रूप में अभिव्यक्त' वस्तु की अवस्था बताता है एवं खुद असत्यकार्यवाद मानने वाले ऋषि वात्स्यायन ने इस प्रकरण में सब स्पष्टत कर दिया है तो कोई शंका इसपर संभव नहीं

मन के परिमाण पर विचार करे तो इसमें भी कई सिद्धांत आयेंगे इसके परिमाण के विषय में ३ सिद्धांत समाने आता है पहला अणुत्व विभूत्व एक माध्यम परिमाण भी माना जाता है बारी बारी हम तीनों की परीक्षा करेंगे

विभूत्व मन का विभूत्व प्रकृति के सामान नहीं है उसकी विभुता केवल नाम मात्र की है जैसे मन सर्वगत है जब जगह जाता आता है उसी प्रकार से उसकी व्यापकता कही जा सकती है एवं मन का व्यापक होने की बात जहां शास्त्र में आया है वहां इसी प्रकार समझना चाहिए एवं इसी पर आर्य विद्वान् राजवीर जी व्याख्या करते है कि "और यहाँ व्यास-भाष्य में चित्त के साथ 'विभु' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिससे उसको व्यापक मानकर ही टीकाकारों ने व्याख्या की है। परन्तु वह सत्य नहीं है, क्योंकि यदि पतञ्जलि चित्त को व्यापक मानते तो समस्त शरीर में उसकी सत्ता माननी पड़ेगी और फिर दूसरे मत से इस मत का क्या भेद रहेगा ? शरीर के परिमाण के समान बडा कहें अथवा सारे शरीर में विद्यमान कहें इन दोनों बातों में कोई अन्तर नहीं रहता । अतः 'विभु' शब्द का (वि पूर्वक भू धातु के अनुसार) विशेषेण भवतीति 'विभु' जो समस्त करणों में विशिष्ट है, अथवा योगसाधना करने से विशिष्ट वैभव - योगैश्वर्यों वाला हो जाता है, यह अर्थ ही सुसंगत होता है" वास्तविक रूप से उसे विभु कहने पर दोष होगा एवं सांख्य योग साथ चलने वाले दर्शन है खुद ऋषि कपिल ने इसका निषेद किया तो भला यह कैसे संभव है [**अणुपरिमाणंतत्कृतिश्रुतेः॥ तदन्नमयत्वश्रुतेश्च॥** [३-१४,१५] एवं **न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रिय त्वाद्वा॥ सक्रियत्वाद्गतिश्रुतेः॥** [५-६९,७०] इन सूत्रों में इसका निषेद है।] माध्यम इस परिमाण को भी औपचारिक रूप से ही कहा जाता है क्योंकि अगर माध्यम परिमाण से शरीर परिमाण नहीं लिया जा सकता क्योंकि मन का सामान्य स्वरूप है ये की

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

वह ज्ञानयौगपद्यात् का अनाधिकरण होना ही चाहिए परन्तु जब मन शरीर परिमाण वाला होगा तो उसका सभी इंद्री से युगपत सम्बन्ध होगा इसलिए यह शरीर परिमाण नहीं है हा इसको मध्यम परिमाण इस प्रकार कहा जा सकता है हर कार्य अपने कारण से स्थूल होता है इस कारण उसकी माध्यम परिमाण का प्रतिपादन है इस कारण उसका मध्यम परिमाण ज्ञातव्य है वास्तव में नहीं

अणु इसका वर्णन वैशेषिक और सांख्य दोनों में स्पष्ट मिलता है [२/३२ सांख्य ७/१/२३ वैशेषिक] एवं तर्क से विचार करे तो जो अणु हो वह ही गतिमान हो सकता है जैसे कूप में घट ही विचर सकता है एवं प्रश्न यह किए जाते है कि मन तो एक स्थान पर रह कर सारे शरीर को कैसे चलाता है तो यह कहा जाना चाहिए कि जैसे शुरूर अपने से संबंधित सभी स्थानों को प्रकाशित करता है वैसे ही हमारा मन भी सारे शरीर को भी प्रकाशित करता है

पूर्वपक्ष— सांख्य तो मन को उत्पन्न होने वाला कहता है पर आप तो उसे नित्य कहते हो यह तो विरोधाभास हुआ

सिद्धान्ती— देखिए सांख्य की व्याख्या अध्यात्म एवं भौतिक श्रृष्टि को लेकर होती है पर वैशेषिक का आरंभ ही भौतिक श्रृष्टि से होता है जो पंचतनमात्र है उससे पूर्व के जो सत रज तम से बने पदार्थ है वह परमाणु से भी सूक्ष्म है एवं सांख्य का पंचतनमात्र ही परमाणु है एवं उससे पहले के सभी पदार्थ अत्यंत सूक्ष्म है और परमार्थ रूप से सबसे सूक्ष्म कण द्रव्य सत रज तम ही है

पूर्वपक्ष— आप भी नवीन वेदान्तियों की तरह व्यवहार परमार्थ की बात करने लगे आपके अनुसार क्या परमार्थ है

सिद्धांति— हमारा परमार्थ नवीन वेदांती जैसा नहीं हमारे परमार्थ के होते हुवे भी व्यवहार कभी मिथ्या नहीं होता बल्कि यह दोनों स्थितियों का समन्वय रहता है परमार्थ में श्रृष्टि की और सूक्ष्म व्याख्या होती और विशेषिक अपने दर्शन का प्रारंभ इसी भौतिक श्रृष्टि से करता है व्यवहार में परमाणु की अविभाज्यता है उससे सुक्ष्म कुछ नहीं परन्तु जब हम और सुक्ष्म की बात करते है तो हम ३ द्रव्य को मनाते है

पूर्वपक्ष— पर अगर आप उसे द्रव्य कहोगे तो आपको सत रज तम से भी सूक्ष्म गुण और कर्म मानना होगा इससे यह भी विभाज्य हो जायेगा

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

सिद्धांती— नहीं अगर तुम यह व्याप्ति देना चाहो की हर गुण द्रव्य से सूक्ष्म है तो यह सिद्धांत गलत है अगर समवेत मात्र होने से कोई पदार्थ द्रव्य से सूक्ष्म होता है तो फिर आपको वायु(द्रव्य) का अनुभव करना होगा अनुभव करने पर आपको स्पर्श गुण का अनुभव होगा अब प्रश्न बनेगा अगर स्पर्श गुण वायु से भी सूक्ष्म है तो वायु का स्वतंत्र अनुभव क्यों नहीं हुआ वायु का पहले अनुभव होना चाहिए तो इसी प्रकार व्यवहार में परमाणु से छोटा कुछ नहीं होता एवं वह नित्य भी है। इति॥

॥ अभाव पदार्थ निर्णय ॥

वैदिक दर्शन के अध्ययन करने वालों को ज्ञात है कि उसमें ६ पदार्थों का ऋषि कणाद उल्लेख कर कहते है कि यह वही पदार्थ है जिनके जानने से तत्त्वज्ञान होगा एवं इसी से मोक्ष की सिद्धि होगी मूल ६ पदार्थ ही वैशेषिक के पदार्थ है ७ वे किसी पदार्थ की सिद्धि ऋषि के मत में सिद्ध नहीं।होती न ही इस बात का सूत्र में कोई प्रमाण है अभाव के वर्णन मात्र से उसके पदार्थ होने का अनुमान नहीं होता है हमे देखना चाहिए कि क्या प्राचीन सूत्र काल में क्या ऋषि ने ७ पदार्थ माने? **अभाव भी पदार्थ है ?**

तो इसका हमे कोई प्रमाण नहीं मिलता खुद ऋषि कपिल के सूत्रों में प्रक्षेपित सूत्रों में जो बौद्ध मत से पूर्व पक्ष रखा है उसमें वैशेषिक के अंदर 6 पदार्थ की ही मान्यता को स्वीकार किया न कि ७ की और हो भी क्यों जिसे खुद पदार्थधर्मसंग्रहकार ने न माना हो प्राचीन कोई भी न्याय एवं वैशेषिक का विद्वान क्यों ही माने? अगर हम अभाव के पदार्थत्व परीक्षण के लिए मान भी ले तो भी जो लक्षण पदार्थ का प्राचीन वैशेषिक में दिया उससे यह कभी सिद्ध नहीं होगा पदार्थधर्मसंग्रहकार कहतें है कि पदार्थ वह है जो सत हो जो अभिधेय हो जो ज्ञान का विषय हो वही पदार्थ है एवं हम इन्हीं लक्षण को लेकर पदार्थ के लक्षण का परीक्षण करेंगे।

अभाव सत है? किसी वस्तु के प्रति अस्ति अर्थात यह है ऐसा ज्ञान होना ही उसका सत होना है परंतु क्या अभाव में ऐसा होता है ? नहीं वहां यह वस्तु नहीं है अर्थात नास्ति[1] का ज्ञान होता तो जब यह सत के लक्षण के ही विपरीत है तो भला यह कैसे पदार्थ होगा ?

पूर्वपक्ष— अभाव में अस्ति का ज्ञान भी होता क्योंकि जब हम घट के अभाव की बात करते है तो हम कहते है घट का अभाव है तो अस्ति का ज्ञान तो यहां भी होता है

उत्तरपक्ष— यह कहना ठीक नहीं क्यूंकि यहां पर अभाव कोई उपस्थित वस्तु नहीं बल्कि घट यहां नहीं है मात्र का यहां ज्ञान होता है न कि किसी अभाव नामक वस्तु का अगर

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

इसे न माने तो अस्ति और न अस्ति का भेद ही नहीं रहेगा फिर व्यवहार किस प्रकार करेंगे? अभाव शब्द का प्रयोग हमें उक्त वस्तु के न होने का ज्ञान कराती है और न होने को सत् कहा नहीं जा सकता है भाव पदार्थ कहे जाने वाले सभी पदार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है परन्तु अभाव नामक कोई भी पदार्थ बुद्धि का विषय नहीं बन पाता आधुनिक दर्शन जगत की विदुषी आदरणीय शशिप्रभा कुमार जी अभाव की इस समस्या को जानती थी इसलिए उन्होंने कहा कि अभाव निषेध नहीं है परंतु उनका यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि भावनिषेधोऽभावः यह लक्षण स्वयं प्रमाण मंजरी जैसे अनार्ष नव्यवैशेषिक ग्रन्थ में लिखा है तो उनकी यह बात की व्याकरण मात्र में ही इसका प्रयोग होता है वैशेषिक में नहीं यह बात हमे संगत नहीं लगती और जब हम मेज पर पुस्तक नहीं देखते तो हमे रिक्तमेज ही अनुभव होता है वस्तु का 'न होने' का प्रत्यक्ष नही होती

विशेषः- आगे हम अभाव के प्रत्यक्ष पर विस्तार से चर्चा करेंगे

पूर्वपक्ष— आपसे किसने कहा है अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता एवं पुस्तक मेज पर नहीं है इस अनुभव आधार क्या है पुस्तक का होना या नहीं होना?

उत्तरपक्ष— यहां पर व्यघात नहीं है ? क्यूंकि अभाव आपके अनुसार सत है और जो सत ही असत=घट न अस्ति का ज्ञान करा दे वह सत किस बात का ? एवं व्याप्ति रूप आप हर विषय में यह भी नहीं कह सकते कि घट पट नहीं है या घट पट जैसा नहीं है क्योंकि दोनों ही असदृश्यता है इसीलिए इसे दोनों के लिए प्रयोग कर सकते हैं जब हम कहते है देवदत्त यज्ञदत्त जैसा नहीं है तो इससे दोनों अर्थ प्रकरण के अनुकूल या कहने वाले के भाव के अनुकूल लिया जा सकता है और इससे दोनों अर्थ भी संभव है तो दोनों को हर स्थिति में भिन्न बताना सिद्ध नहीं होता यह क्योंकि उक्त स्थिति में इस तर्क व्यभिचार स्पष्ट दिखता है। एवं अभाव नामक किसी वस्तु का ६ में से किसी भी इंद्री द्वारा ग्रहण सम्भव नहीं है एवं सत केवल ६ पदार्थ ही है इनसे भिन्न कोई पदार्थ सत नहीं यह वैशेषिक का मूल सिद्धांत है जिसे पदार्थधर्मसंग्रहकार ने मुक्त कंठ से उद्धृत किया है।

अभाव अभिधेय भी है। किसी भी वस्तु को कुछ भी नाम देकर उसे पुकारना मात्र अभिधा नहीं है इसकी काफी गूढ़ दार्शनिक व्याख्या है उदयन अभिधान योग्यता को अभिधा कहते हैं अगर इसे मान कर चले तो क्या यह लक्षण द्वारा अभाव को अभिधेय कहा जा सकता है ? हम उसी का परीक्षण करेंगे गौरीनाथ किरणावली में अभिधा की व्याख्या करते हुए कहते है कि "जो अर्थ शब्द के उच्चारण से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में आ सकता है" अगर

Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

इस अर्थ को स्वीकार करे तो अभाव में जैसा कि हम पूर्व दिखा चुके है अभाव शब्द से हम कोई वस्तु का ज्ञान वहां नहीं कर पाते यह केवल निषेध अर्थ में प्रयोग होता है और कुछ नहीं तो इसकी अभिधानयोग्यता तो जाती रही एवं एवं अभिधा को ही ६ पदार्थ का ही साधर्म्य माना गया है यह बात गौरीनाथ स्वयं स्वीकार करते हैं अभाव जब न सत हैं न अभिधेय है तो भला ज्ञेय कैसे हो सकता है ? जो जाना उसे ही जा सकता है जो सत और अभिधेय हो इसलिए इसपर स्वतन्त्र कुछ लिखना लेख का अनावश्य विस्तार ही होगा।

॥ अभाव के लक्षणों की परीक्षा ॥

न्यायसिद्धांतमुक्तावलिकार ने कहा है कि ६ पदार्थ के अन्योन्याभाव को ही अभाव कहते है हम पूछते है कि ६ पदार्थों का अन्योन्याभाव भावभिन्न है या अभावभिन्न? अगर कहो कि यह भावभिन्न है तो घटाभावाभाव तो घट भाव है तो यह लक्षण इस स्थिति में अव्याप्ति होगा अगर यह कहो को। आभावभिन्न है तो व्याघात होगा अगर कहो कि उभय है तो भी आपका मंतव्य नहीं सिद्ध होगा क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नही देखी गई भट्टाचार्य के में मत यही है एक निर्दुष्ट है बाकी सभी लक्षण एक समान है वैसे इसमें कुछ न्याय के विद्वान ही दुष्टता मानते है उनका कहना है कि यह अन्योन्याश्रय दोष से ग्रसित है

॥ अभाव और प्रत्यक्ष ॥

अब हम प्राचीन आचार्यों द्वारा दिए गए अभाव के प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा करेंगे सबसे पहले हम उन वैशेषिक सूत्रों पर विचार करते है जिससे वर्तमान विद्वान अभाव की प्रत्यक्ष सिद्धि बताते है सबसे पहले हम उन वैशेषिक सूत्रों की उद्धृत करते है जिसमें अभाव का कथित प्रत्यक्ष बताया हुआ है—

असदिति भूतप्रत्यक्षाऽभावाद् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत्॥ [९/१/६]

सूत्रार्थ— (**असत्**) अब नहीं है (**इति**) ऐसा जो ज्ञान है, वह (**भूतप्रत्यक्षा-उभावात्**) हुबे पदार्थ का प्रत्यक्ष न होने से [परन्तु] (**भूतस्मृतेः**) हुवे पदार्थ की स्मृति बनी रहने से (**विरोधिप्रत्यक्षवत्**) विरोधिप्रत्यक्ष के समान है॥

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च॥ [९/१/७]

सूत्रार्थ— (**तथा**) इसी प्रकार (**अभाव**) अभाव असत् में (**च**) भी (**भाव-प्रत्यक्षत्वात्**) सत् के प्रत्यक्ष होने से [ज्ञान होता है]

एतेनाऽघटोऽगौरऽधर्मश्च व्याख्यातः॥ [९/१/८]

Kapil Sankhyayog Anusandhan Kendra

सूत्रार्थ— (**एतेन**) इस से (**अघटः**) घट का अभाव=अघट, (**अगौः**) गो का अभाव=अगौ (च) और (**अधर्मः**) धर्म का विरोधी=अधर्म (**व्याख्यातः**) व्याख्यान किया गया

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम्॥ [९/१/९]

सूत्रार्थ— (**अभूतम्**) नहीं हुवा है, (**नं अस्ति**) नहीं है, (**इति**) ये दोनों (**अनर्थान्तरम्**) एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं, एक ही बात हैं

नास्ति घटोगेह इति, सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः॥ [९/१/१०]

सूत्रार्थ— (**गेहे**) घर में (**घटः**) घट (**न अस्ति**) नहीं है (**इति**) इस कथन में (**सतः**) होते हुवे (**घटस्य**) घड़े का (**गेहसंसर्गप्रतिषेथः**) घर में संसर्ग न होना अभिप्राय है

यह तुलसीराम स्वामी कृत अर्थ से उद्धृत है जिसमें मूल सूत्र का अर्थ बिन किसी अनावश्यक शब्द जोड़े दिया गया है यहां सारे सूत्र में कही भी ऋषि कणाद ने अभाव को कोई भिन्न सत वस्तु नहीं माना अभाव का केवल असत अर्थ किया है न कि कोई और एवं जो तथा कथित अभाव का भेद है वह और कुछ नहीं बल्कि एक वस्तु किस प्रकार अनुपलब्ध होती है उसका ही ज्ञान कराया है एवं ऋषि दयानन्द सरस्वती भी अभाव के भेद की चर्चा करते है पर पदार्थ केवल ६ ही मानते है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिए एवं अभाव शब्द मात्र के प्रयोग से उसे पदार्थ मानना इस तर्क को तो शशिप्रभा जी भी तुच्छ मानती है एवं गौरीनाथ किरणावली की व्याख्या में जो प्राचीन आचार्यों ने ज़बरदस्ती आभाव को सूत्र में सिद्ध करने का प्रयास किया उसका युक्ति युक्त खंडन किया है उसे पाठक को वही देख लेना चाहिए और हा हम उनके हर वक्तव्य के उत्तरदायित्व को स्वीकार नहीं करते निष्कर्ष रूप से यह कह सकते है कि अभाव को सत् तो नहीं कहा गया पर असदिति कह कर उसके सत होने का निषेध जरूर किया है । एवं भाव को अभाव के सामान नहीं माना जा सकता क्योंकि हर भाव पदार्थ प्रत्यक्ष से सिद्ध होता है पर अभाव जैसी कोई सत वस्तु कभी बुद्धि का या ५ बाह्य इंद्रियों का विषय नहीं बनती हमने एवं इसी असत के प्रत्यक्ष से विशेषण विशेष्य भाव से ज्ञात होने वाले भूतल पर असत घट का ज्ञान समझना चाहिए न कि किसी अभाव जैसे सत पदार्थ का हम मीमांसको के अनुपलब्धि प्रमाण की नहीं मानते पर उनकी आपत्ति को सही मानते है जिसे हम यहां न उद्धृत करेंगे[2] एवं खुद न्याय मंजरीकार अभाव को असत मानते है उनकी इस बात से हम सहमत है।

निष्कर्षः- इतना सब देखने के बाद मुझे यही ज्ञात होता है कि अभाव की सिद्धि मात्र शब्दों पर टिकी है आप कितनी प्रतिभा से वक्रोक्ति कर सकते हो मात्र यही इसका आधार बना

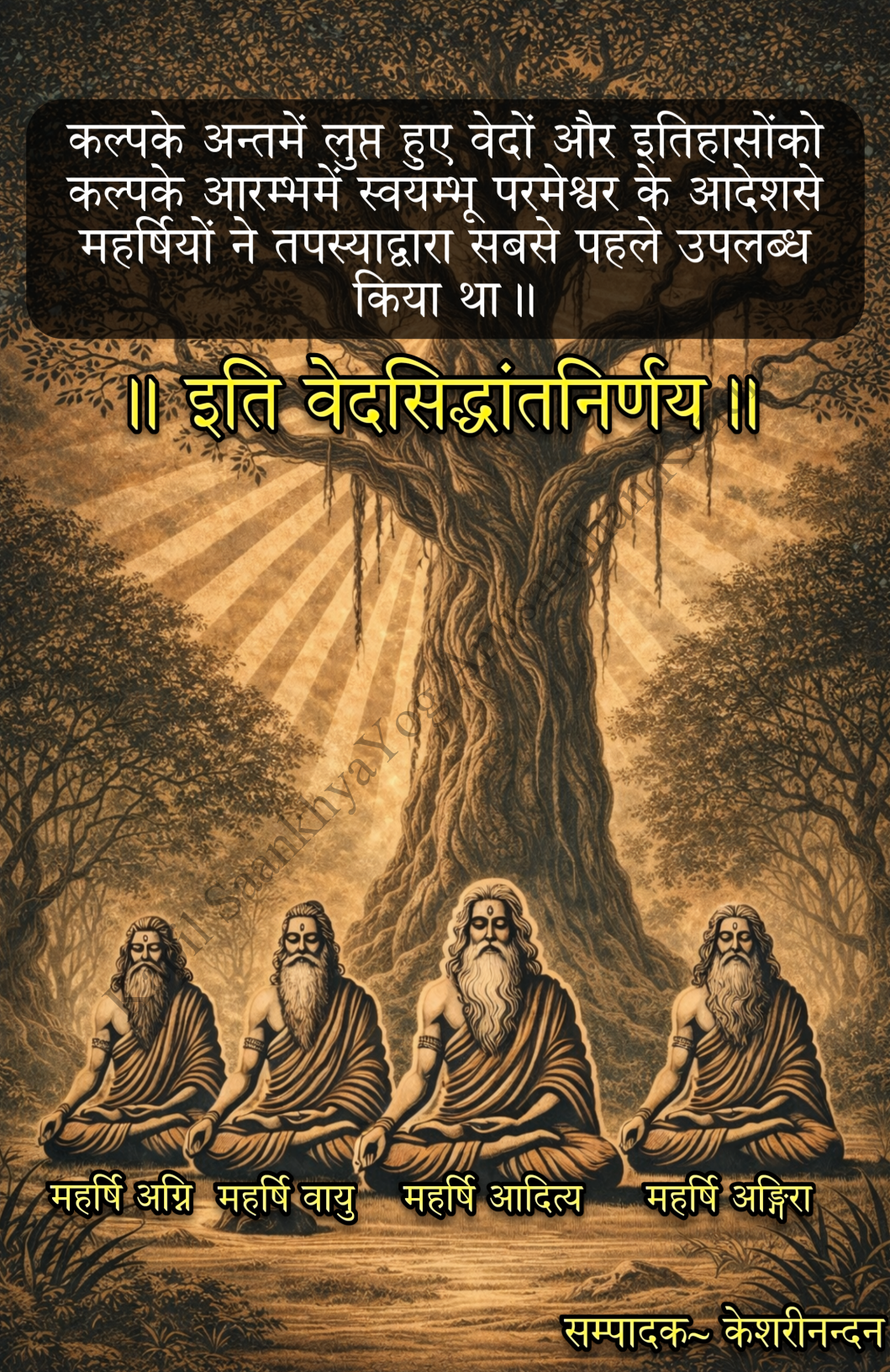
Kapil Sankhya Yog Anusandhan Kendra

हुआ इसमें यथार्थ कुछ भी नहीं एवं न केवल यह अभाव एवं संपूर्ण अनार्ष न्याय वैशेषिक का साहित्य जिसमें प्राचीन में बात करे तो फिर भी ऐसे ग्रंथों की कमी दिखती परन्तु जब हम नव्यता की और चले जाते है तो हर दूसरा ग्रंथ हमारी बात का प्रमाण सिद्ध होता है।

Kapil SaankhyaYog Anusandhan Kendra

कल्पके अन्तमें लुप्त हुए वेदों और इतिहासोंको कल्पके आरम्भमें स्वयम्भू परमेश्वर के आदेशसे महर्षियों ने तपस्याद्वारा सबसे पहले उपलब्ध किया था ॥

॥ इति वेदसिद्धांतनिर्णय ॥



Vedic Sankhya Yog

सम्पादक~ केशरीनन्दन